विशेष अंक : 20 पृष्ठ

मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 110 ● वर्ष 12, अंक 5 ● जुलाई 2022 ● दस रुपये

मज़दूर बिगुल

पाठ्यपुस्तकों में बदलाव छात्रों को संघ का झोला ढोने वाले कारकून और दंगाई बनाने की योजना 15

सामूहिक हत्याएँ : अमेरिकी समाज की गम्भीर मनोरुग्णता का एक लक्षण 9

'पुष्पा', 'केजीएफ़'... उन्हें बंजर सपने बेचो! 18

भाजपा के "राष्ट्रवाद" और देशप्रेम की खुलती पोल

अब मज़दूरों-किसानों के बेटे-बेटियों को पूँजीपति वर्ग के "राष्ट्र" की "रक्षा" भी ठेके पर करनी होगी!

सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में भर्ती की 'अग्निपथ' योजना के ज़रिए देश के युवाओं के रोज़गार पर एक और हमला

सम्पादक मण्डल

मोदी सरकार ने हाल ही में सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में भर्ती की एक नयी योजना 'अग्निपथ' की घोषणा की। इसके साथ ही देश के कई राज्यों में बेरोज़गार नौजवानों के उग्र प्रदर्शन फूट पड़े। कई राज्यों में ट्रेनों आदि को जलाया गया, बहुत-सी ट्रेनें कुछ दिनों तक रद्द रहीं, बहुत-सी ट्रेनों के रास्ते बदल दिये गये। इस योजना पर नौजवानों का यह ग़ुस्सा क्यों फूटा? इसकी वजह यह थी कि सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में नौकरी पाने का प्रयास करने वाले लाखों युवाओं के रोज़गार के हक़ पर यह एक हमला है। इस योजना के तहत अब सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में चार वर्ष के लिए भर्ती होगी, उसके बाद आपको निकाल दिया जायेगा और आपको पेंशन व ग्रैच्युटी आदि जैसे अधिकार भी हासिल नहीं होंगे। यानी मोदी जी ने फिर से आम चूसकर गुठली फेंकने का 'प्लान' बना लिया है!

'अग्निपथ' वास्तव में सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में रोज़गार को ठेका प्रथा के मातहत ला रही है। यह एक प्रकार से 'फ़िक्स्ड टर्म कॉण्ट्रैक्ट' जैसी व्यवस्था है, जिससे हम मज़दूर पहले ही परिचित हो चुके हैं और जिसके मातहत एक निश्चित समय के लिए आपको काम पर रखा जाता है, और फिर आपको दूध में पड़ी मक्खी की तरह निकालकर फेंक दिया जाता है। पहले मज़दूरों की बारी आयी थी, अब सैनिकों की बारी आयी है। जैसा कि एक कवि पास्टर निमोलर ने कहा था, फ़ासीवादी देशप्रेम और "राष्ट्रवाद" की ढपली बजाते हुए अन्ततः किसी को नहीं छोड़ते!

इस योजना ने संघ परिवार और मोदी सरकार के नक़ली देशप्रेम और "राष्ट्रवाद" की पोल भी खोल दी है। सत्ता में पहुँचने के लिए इन्होंने अपने कथित देशप्रेम और "राष्ट्रवाद" का ख़ूब ढिंढोरा पीटा था। जब नोटबन्दी करके देश की जनता को बैंकों की लाइनों में खड़ा कर दिया गया था, तो नाराज़ लोगों से मोदी सरकार और उसके चमचे पूछा करते थे, "सैनिक 24 घण्टे धूप, बारिश और बर्फ़बारी में सीमा पर खड़े रहते हैं, तुम देश की सेवा के लिए कुछ घण्टे बैंक की लाइन में

(पेज 13 पर जारी)

बेरोज़गारी का गहराता संकट

– मनजीत

बेरोज़गारी की समस्या साल दर साल विकराल रूप लेती जा रही है। स्थाई रोज़गार पाना तो जैसे शेख़चिल्ली के सपने जैसा हो गया है। देश में करोड़ों पढ़े-लिखे डिग्रीधारक युवा नौकरी ना मिलने के चलते अवसाद का शिकार हो रहे हैं। रोज़ ही नौजवानों की आत्महत्या की ख़बरें आ रही हैं। आज देश के नौजवानों के बीच रोज़गार सबसे ज्वलन्त मुद्दा है। विश्वविद्यालय और कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्रों, दिल्ली व कोटा जैसे महानगरों में प्रतियोगी परीक्षा की तैयारी में लगे युवाओं, छोटे क़स्बों और गाँव तक में नौजवानों का बस एक ही लक्ष्य होता है कि किसी भी तरीक़े से कोई छोटी-मोटी सरकारी नौकरी मिल जाये ताकि उनकी और उनके परिवार की दाल-रोटी का काम चलता रहे। आप सभी अपने अनुभव से यह बात जानते ही हैं कि स्थायी नौकरियाँ साल दर साल कम हो रही हैं। एक-एक नौकरी के पीछे हज़ारों हज़ार आवेदन किये जाते हैं, पर नौकरी तो मुट्ठीभर लोगों को ही मिलती है। इस प्रकार हर साल लाखों क़ाबिल नौजवान बेरोज़गारों की भीड़ में शामिल हो रहे हैं और सिवाय अपने भाग्य को कोसने के अलावा उन्हें कोई दूसरा विकल्प नही दिखाई पड़ता।

बेरोज़गारी के कारणों की अनभिज्ञता के चलते ख़ुद को ही दोष देने की प्रवृत्ति लम्बे समय में उन्हें मानसिक रोगी में बदल रही है। अन्त में जब कोई रास्ता नहीं सूझता तो कई युवा मौत को गले लगाने को मजबूर हो रहे हैं। बीच-बीच में बढ़ती बेरोज़गारी के ख़िलाफ़ लोगों का ग़ुस्सा सड़क पर भी फूटता है, परन्तु सही दिशा न होने के कारण अन्ततः आन्दोलन बिखर जाते हैं। 'अग्निपथ योजना' के ख़िलाफ़ छात्रों और युवाओं के सड़कों पर उतरने के पीछे भी रोज़गार का लम्बे समय से बना संकट ही है।

आगे दिये गये आँकड़े बेरोज़गारी की भयंकरता को दर्शाते हैं। इन आँकडों से समझा जा सकता है कि नौकरी मिलने की सम्भावना नगण्य है। इन आवेदन करने वालों में पीएचडी, एमटेक, बीटेक, एमबीए जैसे डिग्रीधारक भी शामिल थे जबकि इनमें से ज़्यादातर पदों के लिए न्यूनतम योग्यता 5वीं या 10वीं थी।

सेण्टर फ़ॉर मोनिटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआईई) के ताज़ा आँकड़ों के अनुसार जून, 2022 के अन्तिम सप्ताह में भारत में बेरोज़गारी की दर 8 प्रतिशत के लगभग पहुँच गयी है। केन्द्र सरकार और राज्य सरकारें इन आँकड़ों को ग़लत बता रही हैं, जबकि असल स्थिति यह है कि बेरोज़गारी की दर इन आँकड़ों से कहीं ज़्यादा है। देश में 45 करोड़ से ज़्यादा लोग, अब काम की तलाश ही छोड़ चुके हैं। इस तथ्य

(पेज 4 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

पूँजीपतियों के मुनाफ़े की बलि चढ़ रही है हमारी धरती

(पेज 20 से आगे)

में बाढ़ आ रही है। साथ ही हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड और जम्मू-कश्मीर में मई-जून-जुलाई के महीनों में बादल फटने से आये दिन अचानक बाढ़ (फ़्लैश फ़्लड) आ जाती है। बादल फटने की वजह से आयी आकस्मिक बाढ़ भूस्खलन पैदा करती हैं। इसकी वजह से भी हर साल लगभग हज़ार लोगों की मौत होती है। ग्लोबल वार्मिंग और हिन्द महासागर की सतह का तापमान बढ़ने के कारण ज़्यादा नमी वाले विशालकाय बादल तैरते हुए हिमालय की ओर पहुँचते हैं। ज़्यादा नमी होने के कारण जब यह बादल फटते हैं तो बाढ़ और भूस्खलन कहीं अधिक विनाशकारी हो जाते हैं।

ग्लोबल वार्मिंग के कारण महासागरों की सतह के तापमान में बढ़ोत्तरी और वायुमण्डल में मौजूद जल वाष्प (वाटर वेपर) का अनुपात दुगुना होने से दुनियाभर में चक्रवात और तूफ़ान पहले से अधिक नियमित तौर पर आने लगे हैं और इनकी तीव्रता में भी अभूतपूर्व बढ़ोत्तरी हुई है। 2001 से 2019 के बीच अरब सागर में उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों (ट्रॉपिकल साइक्लोन) की संख्या में 52 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। इस दौरान अति भयंकर चक्रवातों में भी 150 प्रतिशत की वृद्धि देखी गयी है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के एक बयान के अनुसार पिछले चार दशकों के दौरान उत्तरी हिन्द महासागर में भयंकर चक्रवातों की तीव्रता में भी विचारणीय बढ़ोत्तरी आयी है। एक रिपोर्ट के अनुसार वैश्विक स्तर पर तीव्र उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की नियमितता 2050 तक दुगुनी हो जायेगी और इनकी हवा की अधिकतम गति में 20 प्रतिशत तक का इज़ाफ़ा हो सकता है। हिमनदियों और ध्रुवीय हिमच्छदों के पिघलने से समुद्र स्तर पर जो बढ़ोत्तरी हुई है इससे भी चक्रवातों से आने वाली बाढ़ ज़्यादा विनाशकारी हो गयी हैं।

जैसा कि हमने ऊपर लिखा है, आज देश में एक ओर बाढ़ की नियमितता और तीव्रता बढ़ती जा रही है वहीं दूसरी ओर सूखा ज़्यादा व्यापक होता जा रहा है। यह प्रक्रिया नये इलाक़ों को अपनी चपेट में लेती जा रही है।

भारत आज भयंकर रूप से सूखा ग्रस्त देशों की श्रेणी में शामिल है। 2020 से 2022 के बीच देश का दो-तिहाई हिस्सा सूखे की चपेट में था। 1997 से अब तक देश में सूखा प्रवण इलाक़ों में 57 प्रतिशत बढ़ोत्तरी हुई है। देश में एक-तिहाई ज़िले ऐसे हैं जो पिछले एक दशक में चार बार सूखा झेल चुके हैं। भारत में प्रति वर्ष पाँच करोड़ लोग सूखे से प्रभावित हो रहे हैं। पिछले दो दशकों में दुनियाभर में सूखे की नियमितता और अवधि में 29 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट के अनुसार सूखे के कारण आज लगभग 230 करोड़ लोग जल संकट का सामना कर रहे हैं। इसमें से 1.6 करोड़ बच्चे ऐसे हैं जो भयंकर और दीर्घकालिक सूखे से जूझ रहे हैं। पिछले पचास साल में सूखे से 6,50,000 लोगों की मौत हुई है। इसी रिपोर्ट के अनुसार तथाकथित विकासशील देशों के सूखाग्रस्त इलाक़ों में रहने वाली महिलाएँ और लड़कियाँ जितनी कैलोरी लेती हैं उसका 40 प्रतिशत पानी ढोने में ख़र्च कर देती हैं। ये महिलाएँ और लड़कियाँ एक बाल्टी पानी के लिए कोसों पैदल चलती हैं! ग्लोबल वार्मिंग, अनियमित बारिश, जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई और भूमिगत जल स्तर में तेज़ गिरावट को देखते हुए यह तय है कि सूखा और जल संकट आने वाले दिनों में काफ़ी तेज़ी से बढ़ने वाले हैं।

ग्लोबल वार्मिंग, जलवायु परिवर्तन और अनियमित बारिश के कारण कृषि उत्पादन पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। वैश्विक स्तर पर गेंहू के उत्पादन में इस साल भारी गिरावट आना तय है। भीषण लू की वजह से भारत में इस साल गेंहू के उत्पादन में 3 प्रतिशत की गिरावट दर्ज की गयी है। उत्तरी अमेरिका में जिस ज़मीन पर गेंहू की खेती होती है उसका 70 प्रतिशत सूखे की स्थिति से जूझ रहा है। यह अन्दाज़ा लगाया जा रहा है कि इस साल कुल उत्पादन का 8 प्रतिशत कम गेहूँ उत्पादन होगा। फ़्रांस में भी इस साल बारिश की कमी के कारण गेंहू का उत्पादन सामान्य से कम होगा। चीन में भी असामयिक बारिश के कारण गेंहू के उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु परिवर्तन के कारण मज़दूर-मेहनतकश जनता की खाद्य सुरक्षा पर आज संकट के गहरे काले बादल मँडरा रहे हैं। वैश्विक खाद्य नीति रिपोर्ट 2022 के अनुसार 2050 तक भारत में 7 करोड़ लोग जलवायु परिवर्तन के कारण भुखमरी का शिकार हो सकते हैं। पिछले साल सर्दियों में बेमौसम बारिश और इस साल भीषण लू के कारण आलू की पैदावार में भी 3 मीट्रिक टन की कमी आयी है। इस साल आलू की क़ीमतों के 57 प्रतिशत बढ़ने के पीछे यह एक अहम वजह रही। 'द हिन्दू' की एक रिपोर्ट के अनुसार बारिश की अनियमितता (कहीं बहुत ज़्यादा बारिश तो कहीं सूखे जैसी स्थिति तो कहीं बेमौसम बारिश), तापमान में भारी उतार-चढ़ाव और भयंकर उमस के कारण इलायची, काजू और गन्ने जैसी नक़दी फ़सलों के उत्पादन में भी भारी गिरावट आयी है। बढ़ते तापमान और उमस के कारण कीटों की संख्या भी बढ़ी है। इनपर कीटनाशकों का असर भी कम हो रहा है। जलवायु परिवर्तन के कारण न केवल फ़सलों के उत्पादन में परिमाणात्मक गिरावट आयी है बल्कि उनकी गुणवत्ता भी कम हुई है। एक महत्वपूर्ण बात जो यहाँ हमें याद रखने की ज़रूरत है वह यह है कि भूमण्डलीय परिवर्तन या जलवायु परिवर्तन खाद्य संकट का मुख्य कारण नहीं है। इसका मुख्य कारण मुनाफ़े की होड़ पर टिकी इस पूँजीवादी व्यवस्था का अराजक-अनियोजित चरित्र है। पर्यावरणीय विनाश के कारण अनाज उत्पादन में गिरावट पहले से मौजूद खाद्य संकट को ज़्यादा गहरा बनाने का काम करती है।

हर दिन पहले से ज़्यादा भीषण होते लू, शीत लहर, बाढ़, सूखा और खाद्य संकट के पीछे का मुख्य कारण ग्लोबल वार्मिंग है। ग्लोबल वार्मिंग पूँजीवादी व्यवस्था की पैदावार है। पूँजीवादी व्यवस्था को इसकी कोई परवाह नहीं है कि पृथ्वी का तापमान और कार्बन उत्सर्जन जानलेवा स्तर तक बढ़ता जा रहा है। इसे सिर्फ़ अपने मुनाफ़े की चक्की को चलाते रहना है। मुनाफ़े के लिए गलाकाटू प्रतिस्पर्धा में लगे पूँजीपतियों और उनकी चाकरी कर रही तमाम बुर्जुआ सरकारों तथा पार्टियों से हम यह उम्मीद नहीं कर सकते कि वे प्रकृति की तबाही को रोकने के लिए कोई सकारात्मक क़दम उठायेंगे।

ऐसी स्थिति में हम मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता क्या करें? क्या हम ऐसे ही हाथ पर हाथ धरे पर्यावरण का विनाश होते देखते रहें? पूरे ब्रह्माण्ड में जीवन को पालने-पोसने वाला जो अब तक का एकमात्र ज्ञात ग्रह है, जिसे हम अपना घर कहते हैं, उस घर को ऐसे ही तबाह होते देखते रहें? मुनाफ़े की हवस मिटाने के लिए हमारी पृथ्वी पर जो आग दहक रही है, क्या हम उसे ऐसे ही जलते रहने के लिए छोड़ दें? हम जानते हैं कि लू, शीत लहर, बाढ़, सूखे का सबसे ज़्यादा प्रकोप हम मेहनतकश जनता को ही झेलना पड़ता है। इसलिए हमें प्रकृति की तबाही को रोकने के लिए एक व्यापक जनान्दोलन खड़ा करना होगा जिसका लक्ष्य समूची पूँजीवादी व्यवस्था का नाश हो। पर्यावरण को बचाने का प्रश्न बाग़बानी का सवाल नहीं है, बल्कि वर्ग संघर्ष का सवाल है। यह शब्द 'मानवनिर्मित आपदा' एक ग़लत शब्द है जिसका इस्तेमाल पूँजीपति वर्ग अपने द्वारा किये जा रहे प्रकृति के विनाश का ठीकरा आम जनता के सिर पर फोड़ने के लिए करता है। आज प्रकृति के विनाश का ज़िम्मेदार पूँजीवाद है और इसलिए इसे 'पूँजीवाद-निर्मित आपदा' कहा जाना चाहिए। हमें यह भी याद रखना होगा कि इस मानवद्रोही पूँजीवादी व्यवस्था के अस्तित्व में रहते प्रकृति की तबाही को नहीं रोका जा सकता। इसलिए हमें इस जनान्दोलन को पूँजीवाद विरोधी आन्दोलन और सर्वहारा क्रान्ति के प्रश्न के साथ जोड़ना पड़ेगा।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं।

मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत-से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 125 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 3000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 8860792320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 10/- रुपये वार्षिक – 125/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 3000/- रुपये

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के कमाण्डर-इन-चीफ़ चन्द्रशेखर आज़ाद के 106वें जन्मदिवस (23 जुलाई) पर

अपनी क्रान्तिकारी विरासत को आगे बढ़ाने का संकल्प लो!

– करन इन्सान

क्रान्तिकारियों के अमर बलिदान और उनके वीरतापूर्ण संघर्ष की विरासत को अपने-अपने हितों के अनुसार इस्तेमाल करने की कोशिशें हर दौर में होती रही हैं। आज भी सत्ता में बैठी फ़ासीवादी भाजपा सरकार व संघी तत्व चन्द्रशेखर आज़ाद जैसे क्रान्तिकारी शहीदों को भगवा रंग में रंगने की हर सम्भव कोशिशें कर रहे हैं। इतिहास के साथ छेड़छाड़ करने से लेकर रंगमंच जैसे माध्यमों के ज़रिए आज़ाद और भगतसिंह जैसे नायकों की विरासत को विकृत करने का काम संघी फ़ासीवादी तेज़ी से करने में जुट गये हैं। बहुचर्चित काकोरी एक्शन के नायक शहीद रामप्रसाद बिस्मिल और अशफ़ाक़ उल्ला ख़ाँ जैसे जाँबाज़ों की शहादत को भी यह साम्प्रदायिक शक्तियाँ अँधेरे में धकेलने के हर सम्भव प्रयास कर रही हैं क्योंकि इन दोनों शहीदों की दोस्ती देश की अवामी एकता का ऐतिहासिक प्रतीक बन चुकी है और आज हर जगह, जहाँ-जहाँ भी साम्प्रदायिक फ़ासीवादी व हिन्दुत्व विचारक वी.डी. सावरकर को क्रान्तिकारियों के समकक्ष रखने की कुत्सित कोशिशें की जाती हैं, वहाँ बिस्मिल और अशफ़ाक़ की दोस्ती उनके लिए स्वाभाविक रूप से बाधा बनती ही है। आज़ाद के व्यक्तित्व से प्रेरित होने का दम्भ भरने वाली ये प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उनके विचारों के नयी पीढ़ियों तक पहुँचने से हमेशा ख़ौफ़ज़दा रहती हैं। लेकिन समाज को अपने श्रम के दम पर खड़ा करने वाली आबादी को क्रान्तिकारियों के व्यक्तित्व के साथ-साथ उनके विचारों से भी प्रेरित होना चाहिए। और इसीलिए आज ऐसे वक़्त में चन्द्रशेखर आज़ाद की स्मृति में उनकी शख़्सियत व जिन आदर्शों व मूल्यों के लिए उन्होंने बहादुराना क़ुर्बानी दी उनको जानने के लिए इतिहास के कुछ पन्ने उलटने होंगे।

हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में क्रान्तिकारी धारा ने बेमिसाल क़ुर्बानियाँ देकर ब्रिटिश-विरोधी व साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की दिशा को लगातार प्रभावित किया। सन् 1857 के विद्रोह को कुचलने के बाद अंग्रेज़ हुकूमत को समय-समय पर पैदा होने वाले क्रान्तिकारी उभारों से ख़तरा महसूस होने लगा और उसने इन्हें कुचल डालने के लिए अनेकों स्तरों पर दमनात्मक कार्रवाइयों को अंजाम दिया। चापेकर बन्धुओं की फाँसी से लेकर 1913-15 के ग़दर आन्दोलन की विफलताओं तक ऐसे अनेकों वीरतापूर्ण संघर्ष क्रान्तिकारियों ने किये।

चन्द्रशेखर आज़ाद उस दौर के क्रान्तिकारी थे जिस वक़्त हिन्दुस्तान का क्रान्तिकारी आन्दोलन काफ़ी तेज़ी से अपना वैचारिक विकास कर रहा था और ग़दर आन्दोलन के क्रान्तिकारियों के दिलेराना ढंग से मौत को गले लगाने वाले अनेकों उदाहरण उस समय मौजूद थे। करतार सिंह सराभा जैसे क्रान्तिकारी की शहादत को इसके एक सर्वोच्च बलिदान के रूप में माना जा सकता है। इसी के साथ ही बोल्शेविक क्रान्ति का प्रभाव भी उस समय काफ़ी तेज़ी से फैल रहा था और इसी कारण से लोगों के राजनीतिक-वैचारिक क्षितिज का विस्तार हो रहा था। एच.आर.ए के संस्थापक सदस्यों जैसे जोगेश चन्द्र चटर्जी और शचीन्द्रनाथ सान्याल ने उस समय समाजवादी विचारों पर अनेकों पुस्तकें पढ़ रखी थीं। अशफ़ाक़ उल्ला ने भी अपनी अनेकों वैचारिक कमज़ोरियों के बावजूद समाजवाद और कम्युनिज़्म के आदर्शों की सराहना की थी। क्रान्तिकारियों के इसी संगठन के एक बेहद कर्मठ और सक्रिय सदस्य चन्द्रशेखर आज़ाद भी थे। आज़ाद बहुत ही अनुशासित जीवन जीने व पार्टी के गोपनीय ढाँचे को हर क़ीमत पर गोपनीय बनाये रखने के लिए प्रतिबद्ध भी रहते थे। यहाँ तक कि लम्बे समय से उनके साथ कार्य करने वाले अन्य साथियों को भी इस बात का पता नहीं होता था कि आज़ाद का घर कहाँ है व उनके माँ-बाप कौन हैं। संकट की घड़ी में भी वे ख़ुद अभावग्रस्त जीवन जीने व अन्य साथियों का ख़्याल रखने को प्राथमिकता देते थे। काकोरी एक्शन में एक के बाद एक साथियों के पकड़े जाने और फाँसी लगने से संगठन लगभग शक्तिहीन हो गया।

1920 का दशक भारत में गम्भीर आर्थिक मन्दी और मज़दूर आन्दोलन के उभार का दशक था। इसी दौर में कम्युनिस्ट रुझान वाली कई मज़दूर यूनियनों का गठन भी हुआ था। नौजवानों के अनेकों आन्दोलनों के कारण पूर्ण स्वराज्य और रैडिकल बदलावों की माँग उठी। कांग्रेस के नेतृत्व के प्रति 1920 के दशक के अन्त के दौर में नौजवानों व क्रान्तिकारियों में गहरा अविश्वास पैदा हुआ और दशक के अन्तिम वर्षों तक आते-आते यह स्थिति काफ़ी गम्भीर रूप धारण कर चुकी थी। इसी माहौल में एच.आर.ए. के युवा सदस्यों जैसे भगतसिंह, चन्द्रशेखर आज़ाद, शिव वर्मा, सुखदेव व विजय कुमार सिन्हा के नेतृत्व में पार्टी को पुनः खड़ा करने की योजना बनायी गयी और एच.आर.ए. की केन्द्रीय समिति के गठन के उद्देश्य से 8 और 9 सितम्बर, 1928 को दिल्ली के फ़िरोज़शाह कोटला के खण्डहरों में एक मीटिंग हुई जिसमें संयुक्त प्रान्त, बिहार, पंजाब और राजस्थान से कुल दस लोगों ने हिस्सा लिया। इस बैठक में क्रान्तिकारियों ने एक कार्यक्रम निर्धारित किया और पार्टी का अन्तिम उद्देश्य भारत में समाजवाद की स्थापना को रखा और इसी के अनुरूप पार्टी का नाम बदलकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन कर दिया गया। चन्द्रशेखर आज़ाद इसी पुनर्संगठित पार्टी की सैन्य शाखा के कमाण्डर इन चीफ़ चुने गये थे। इस प्रकार एच.एस.आर.ए. वास्तविक अर्थों में भारत की जनता की आज़ादी के लिए लड़ रहे जाँबाज़ योद्धाओं का ही एक संगठन था। यह सही मायनों में धर्मनिरपेक्षता का अनुसरण करने और समाजवादी व्यवस्था क़ायम किये जाने के पुरज़ोर पक्षधर थे। ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल और पब्लिक सेफ़्टी बिल के ज़रिए मज़दूरों की हड़तालों को कुचलने के विरोध में एच.एस.आर.ए. की केन्द्रीय परिषद की बैठक हुई जिसमें तय किया गया कि पार्टी के कुछ लोग असेम्बली हॉल में बम फेंककर अपना विरोध दर्ज करायेंगे और अदालतों को अपने विचारों के प्रचार-प्रसार का मंच बनायेंगे। चन्द्रशेखर आज़ाद भगतसिंह की पार्टी में ज़रूरत को बहुत अच्छे से समझते थे और उन्हें आशंका थी कि वे भगतसिंह को इस पूरे काण्ड के दौरान खो देंगे। 8 अप्रैल 1929 को जब असेम्बली हॉल में बम के धमाके हुए तो ब्रिटिश साम्राज्य की जड़े हिल गयीं। अनेकों देशी-विदेशी अख़बारों ने इस घटना को कवर किया। बम फेंकते समय भगतसिंह और दत्त ने "इन्क़लाब ज़िन्दाबाद" और "साम्राज्यवाद मुर्दाबाद" के नारे लगाये व लाल पर्चे फेंके जिन पर लिखा हुआ था "बहरों को सुनाने के लिए धमाके की ज़रूरत होती है।"

गाँधी और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में चलाये जा रहे असहयोग आन्दोलन से आज़ाद का जुड़ाव भी रहा था किन्तु बाद में जब गाँधी और कांग्रेस के क्रान्ति-विरोधी समझौतापरस्त चरित्र का पर्दाफ़ाश हुआ तो देशभर के अनेकों क्रान्तिकारी तत्वों को इससे निराशा हाथ लगी जिनमें ख़ुद चन्द्रशेखर आज़ाद भी थे।

आज़ाद की पढ़ाई-लिखाई कभी ठीक से नहीं हो पायी लेकिन क्रान्तिकारी स्वभाव होने के कारण और एच.आर.ए. के क्रान्तिकारियों के बीच उस वक़्त काफ़ी प्रचलित रूसी साहित्य और क्रान्ति के विज्ञान के क़रीब आने से वे देश की परिस्थितियों का मूल्यांकन करने में अपने समय के अनेकों क्रान्तिकारी तत्वों से बहुत आगे थे। 1920 के दशक की शुरुआत में ही देशभर के नौजवानों को यह अहसास हो चुका था कि भारत का राष्ट्रीय बुर्जुआ नेतृत्व किसानों के क्रान्तिकारी उभार और मज़दूरों के आन्दोलन से भयभीत हो चुका है अब वह किसानों, मज़दूरों व देश के नौजवानों के साथ विश्वासघात कर रहा है, उनके आन्दोलनों का इस्तेमाल अपने हितों में अंग्रेज़ों से मोलभाव करने के लिए कर रहा है और इन आन्दोलनों के उग्र होने पर अंग्रेज़ों से समझौतापरस्ती कर रहा है। बाद में क्रान्तिकारियों के बीच भगतसिंह, बटुकेश्वर दत्त और भगवतीचरण वोहरा जैसे जोशीले व अध्ययनशील क़िस्म के युवा जुड़े तो उन्होंने आज़ाद सहित पूरे क्रान्तिकारी दल और यहाँ तक कि आन्दोलन के वैचारिक स्तर में एक लम्बी छलाँग लगाने में एक अहम भूमिका अदा की। आज़ाद इन साथियों की मदद से तमाम राजनीतिक और वैचारिक मसलों पर अपनी समझ बनाते थे, महत्वपूर्ण राजनीतिक सामग्री को पढ़वाकर सुनते थे।

एच.एस.आर.ए. के कमाण्डर के रूप में आज़ाद मरते दम तक एक निडर योद्धा की तरह जिये। 27 फ़रवरी 1931 को एक ग़द्दार द्वारा मुख़बिरी कर दिये जाने के कारण आज़ाद को इलाहाबाद के अल्फ़्रेड पार्क में चारों तरफ़ से अंग्रेज़ पुलिस के सिपाहियों ने घेर लिया जिनसे वह क़रीब घण्टेभर पर लड़ते रहे और अन्त में जब गोलियाँ ख़त्म हो गयीं तो आख़िरी गोली से उन्होंने ख़ुद को मार लिया और शहादत दी। चन्द्रशेखर आज़ाद ने प्रतिज्ञा ली थी कि वे कभी भी अंग्रेज़ ज़ालिमों के हाथ ज़िन्दा नहीं पकड़े जायेंगे और हुआ भी वही कि वे अपनी आख़िरी साँस तक कभी पकड़े नहीं गये।

आज के दौर में हम मज़दूरों-मेहनतकशों को यह जानना चाहिए कि आज़ादी की लड़ाई में एक धारा क्रान्तिकारियों की भी थी और अंग्रेज़ी हुकूमत की नाक में उन्होंने हमेशा दम करके रखा। वे समाजवाद के उसूलों को मानते थे, मज़दूर पार्टी बनाने का लक्ष्य रखते थे और मज़दूर राज क़ायम करना चाहते थे। उनके इन आदर्शों और विचारों से न सिर्फ़ अंग्रेज़ी हुकूमत ख़ौफ़ज़दा थी बल्कि देश के पूँजीपति वर्ग की पार्टी कांग्रेस का नेतृत्व भी घबराता था। क्योंकि वह समझता था कि अगर आज़ादी के आन्दोलन का नेतृत्व भगतसिंह, राजगुरू, सुखदेव, चन्द्रशेखर आज़ाद, अशफ़ाक़ उल्ला, बिस्मिल जैसे क्रान्तिकारियों की क्रान्तिकारी धारा के हाथों में आया तो भारत की आज़ादी पूँजीपतियों की लक्ष्यपूर्ति से आगे जायेगी और मज़दूर राज और समाजवाद की स्थापना की ओर जायेगी। ये बेहद युवा क्रान्तिकारी थे और अपने विचारधारात्मक-राजनीतिक विकास के आरम्भिक चरणों में थे, हालाँकि इन शुरुआती मंज़िलों में भी उन्होंने अपनी बौद्धिक-वैचारिक शक्ति को दिखला दिया था। लेकिन फिर भी अभी बहुत अनुभव, वैचारिक-राजनीतिक परिपक्वता और कुशलता की आवश्यकता थी और साथ ही कम्युनिज़्म के उसूलों की समझदारी और व्यवहार को विकसित करने में भी अभी लम्बा रास्ता तय करना था, इसलिए वह आज़ादी के आन्दोलन के नेतृत्व से कांग्रेस को हटाने में सफल होने से पहले ही भयभीत अंग्रेज़ सरकार द्वारा कुचल दिये गये और शहीद हुए, जिस पर कांग्रेस ने भी बस घड़ियाली आँसू बहाये और एक मौन सहमति दी। वहीं हिन्दू महासभा व राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे साम्प्रदायिक व हिन्दुत्ववादी संगठनों ने तो इन शहीदों की शहादत पर तालियाँ बजायी थीं। बड़े अफ़सोस की बात है कि आज ये ही फ़ासीवादी सत्ता में बैठे हैं और आज़ाद, भगतसिंह, सुखदेव आदि जैसे क्रान्तिकारियों का नाम अपनी ज़ुबान पर लाकर हमारी क्रान्तिकारी विरासत का अपमान कर रहे हैं। ऐसे में, हमें अपनी इस क्रान्तिकारी विरासत को नये सिरे से ज़िन्दा करना होगा और मौजूदा शोषणकारी व दमनकारी निज़ाम के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष को नये सिरे से संगठित करना होगा।

बेरोज़गारी का गहराता संकट

(पेज 1 से आगे)

को श्रम बल भागीदारी दर (LFPR) के आँकड़े सही साबित करते हैं, जिसके अनुसार भारत में 2020 में श्रम बल भागीदारी दर 46 प्रतिशत थी, जबकि साल 2022 में यह घटकर 40 प्रतिशत ही रह गयी है।

रोज़गार के मामले में महिलाओं की स्थिति और भी ज़्यादा ख़राब है। 1990 में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू हुई थीं, तब से महिलाओं की काम में भागीदारी लगातार कम हो रही है। साल 1990 में जहाँ कुल कार्यबल में महिलाओं की भागीदारी 30.3 प्रतिशत थी जो साल 2021 में घटकर 19 प्रतिशत पर आ गयी और साल 2022 में यह संख्या मात्र 9 प्रतिशत रह गयी।

भर्ती के नाम पर भी युवाओं के साथ भद्दा मज़ाक़ ही किया जा रहा है। किसी भी भर्ती की पूरी प्रक्रिया होने में 4-5 साल से भी ज़्यादा समय लग जाता है और कई दफ़ा भर्ती ही रद्द हो जाती है। भर्ती के नाम पर करोड़ों रुपये बेरोज़गार आवेदकों से हड़प लिये जाते हैं। इतना ही नहीं लगभग हर भर्ती घोटाले की भेंट चढ़ जाती है। सरकारी नौकरी के बारे में कुछ साल पहले तक यह कहा जाता था कि एक बार मिल गयी तो पूरी उम्र का सुख हो जाता है। मोदी सरकार में तो 10 वर्षों से काम कर रहे सरकारी कर्मचारियों को भी नौकरी से बाहर निकाला जा रहा है।

साल दर साल कम होते रोज़गार के अवसर

1991 में कांग्रेस की सरकार ने व्यवस्थित तरीके से उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू करनी शुरू की थी। जिसके बाद से सार्वजनिक उपक्रमों को औने-पौने दाम में देश के धन्नासेठों को बेचने की शुरुआत हुई जो कि आज तक जारी है और इन्हीं नीतियों को मोदी सरकार बुलेट ट्रेन की रफ़्तार से आगे बढ़ाने का काम कर रही है। जिसके चलते पहले से ही कम बचे स्थायी रोज़गार के अवसर और ज़्यादा कम होते जा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में ही मोदी सरकार ने विऔद्योगीकरण के नाम पर सार्वजनिक उपक्रमों की बड़ी हिस्सेदारी पूँजीपतियों को कौड़ियों के दाम बेच दी है। इसके कारण भी लाखों सरकारी नौकरियाँ कम हो गयी हैं।

मोदी सरकार ख़ाली पड़े पदों पर नयी भर्ती करने की बजाय, उन पदों को ही ख़त्म कर रही है। पिछले 6 वर्षों में अकेले रेलवे विभाग में 72,000 पदों को ख़त्म कर दिया गया है और आने वाले समय में लगभग 81,000 पद रेलवे में और कम होने वाले हैं। पिछले साल ही सरकार ने यह तय किया था कि डिफ़ेन्स में पिछले 5 साल से ख़ाली पड़े हज़ारों पदों को समाप्त किया जायेगा। इसी तरीक़े से छात्रों की कम संख्या का हवाला देकर हज़ारों सरकारी स्कूल बन्द किये जा चुके हैं जिसके कारण इन स्कूलों में शिक्षकों के ख़ाली पद ख़त्म हो गये हैं।

भर्ती का नाम	साल	कुल पद	कुल आवेदक	नौकरी मिलने का प्रतिशत
रेलवे भर्ती बोर्ड	2019	35,281	1,26,30,885	0.28
चपरासी (यूपी)	2015	368	23,00,000	0.016
रेलवे (सी एण्ड डी)	2018	90,000	2,50,00,000	0.36
चतुर्थ श्रेणी (हरियाणा)	2018	18,412	23,00,000	0.8
चपरासी (यूपी)	2018	62	93000	0.066

केन्द्र और राज्यों में कुल नौकरियों में भी भारी कमी आयी है। केन्द्र में 2021 में 2020 की तुलना में 27 प्रतिशत कम स्थायी भर्तियाँ हुई हैं। यही हाल राज्यों का भी है। यहाँ भी 2021 में 2020 की तुलना में 21 प्रतिशत कम स्थायी भर्तियाँ हुई हैं। केन्द्र में साल 2020 में कुल 1.19 लाख स्थायी भर्तियाँ हुई थीं, जबकि साल 2021 में यह संख्या घटकर 87,423 हो गयी। आँकड़ों के अनुसार साल 2017 में केन्द्र सरकार हर महीने औसतन 11,000 स्थायी नौकरियाँ निकालती थी, जो 2020 में घटकर 7,285 रह गयीं। यही हाल राज्यों में निकलने वाली स्थायी भर्तियों का है। साल 2017 में औसतन हर महीने राज्यों में 45,208 स्थायी भर्तियों की संख्या 2020 में घटकर 32,421 ही रह गयी है। यूपीएससी और एसएससी में भर्तियाँ भी लगातार कम हो रही हैं। साल 2012 में एसएससी में 83,591 भर्तियाँ हुई थीं, जो साल 2021 में घटकर 68,533 रह गयीं। यूपीएससी में साल 2012 में 6,863 भर्ती हुई थी, जो 2021 में घटकर 3,986 ही रह गयी।

स्थायी रोज़गार को ख़त्म करके ठेका प्रथा को बढ़ावा देना

स्थायी नौकरियों की जगह ठेका प्रथा को बढ़ावा दिया जा रहा है। श्रम मंत्रालय द्वारा लोकसभा में पेश किये गये आँकड़ों के अनुसार साल 2017 में केन्द्र की नौकरियों में 11.11 लाख कर्मचारी ठेके पर काम कर रहे थे। यह आँकड़ा साल 2021 में बढ़कर 24.31 लाख हो गया। सार्वजनिक उपक्रमों में भी ठेका प्रथा को बढ़ावा दिया जा रहा है। साल 2016 में सार्वजनिक उपक्रमों में 2.68 लाख कर्मचारी ठेके पर काम करते थे जो 2020 में बढ़कर 4.99 लाख हो गये।

सार्वजनिक उपक्रम	कुल कर्मचारी	ठेका कर्मचारी	ठेका कर्मचारियों का प्रतिशत
इण्डियन ऑयल	1,06,000	73,070	69%
भारत पेट्रोलियम	40,183	28,923	72%
ओएनजीसी	28,479	17,657	62%

ऊपर दिये गये आँकड़े भारत के तेल और गैस के तीन प्रमुख सार्वजनिक उपक्रमों के हैं, जो सार्वजनिक उपक्रमों में घटते स्थायी रोज़गार की हक़ीक़त को बयान कर रहे हैं। बाक़ी के सार्वजनिक उपक्रमों का भी कमोबेश यही हाल है। 'अग्निपथ योजना' के तहत 4 साल के लिए सेना में संविदा पर नौजवानों की भर्ती करना, ठेकाकरण का सबसे बेहतर उदाहरण है जो आने वाले समय की स्पष्ट तस्वीर पेश करता है कि आने वाले दिनों में स्थायी नौकरियाँ न के बराबर रह जायेंगी।

2019 में आयी इकॉनोमिक सर्वे की एक रिपोर्ट के अनुसार, देश में काम करने वाली आबादी का 93 प्रतिशत हिस्सा असंगठित क्षेत्र में काम करता है। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों के हालात सबसे बदतर हैं। इस क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों को न तो पेंशन, ईएसआई, पीएफ़ और न ही किसी भी प्रकार की कोई सामाजिक सुरक्षा ही मिलती है। इस क्षेत्र में सबसे ज़्यादा दुर्घटनाएँ घटती हैं। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की सालाना आय भी बहुत ही कम होती है। 'टाइम्स ऑफ़ इण्डिया' अख़बार में 27 सितम्बर, 2018 को छपी एक ख़बर के अनुसार, हमारे देश में काम करने वाली पुरुष आबादी की 92 प्रतिशत और महिलाओं की 82 प्रतिशत संख्या को 10,000 रुपये प्रति महीने से भी कम तनख़्वाह मिलती है।

असंगठित क्षेत्र के लगभग सभी कारख़ानों में औसतन काम के घण्टे 10 से 12 होते हैं। ओवरटाइम का भुगतान डबल रेट से कहीं नहीं होता है। 'समान काम, समान वेतन' का नियम सिर्फ़ काग़ज़ों में ही है। किसी भी राज्य में यह नियम लागू नहीं होता है। स्थायी प्रकृति के कार्य में स्थायी नौकरी देने का प्रावधान है, परन्तु निजी क्षेत्र में तो छोड़िए, सरकारी उपक्रमों में भी यह क़ानून लागू नहीं होता। असंगठित क्षेत्र में सबसे बुरा हाल खेत मज़दूरों का है। 'स्टेटीस्टा' द्वारा पेश आँकड़ों के अनुसार 2009 से 2019 के 10 वर्षों में कृषि के क्षेत्र में कार्यबल की संख्या 52.5 प्रतिशत से घटकर 42.6 प्रतिशत रह गयी है। इस क्षेत्र में सबसे कम मज़दूरी मिलती है।

पूँजीवाद के पैरोकारों द्वारा बेरोज़गारी के कारणों के बारे में फैलाये जाने वाले विभ्रम

बेरोज़गारी के लगातार बढ़ने के असल कारणों पर हम बाद में आयेंगे। पहले इस व्यवस्था के पैरोकारों द्वारा फैलाये विभ्रमों पर संक्षिप्त चर्चा कर लेते हैं। पहला विभ्रम ये लोग फैलाते हैं कि बेरोज़गारी के पीछे जनसंख्या ज़िम्मेदार है। इसके पीछे उनका यह तर्क है कि संसाधनों की तुलना में जनसंख्या ज़्यादा तेज़ गति से बढ़ रही है। 1950-1951 से 2010-2011 तक के सरकारी आँकड़ों का अगर हम अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि संसाधनों (खाद्य उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन) के बढ़ने की दर जनसंख्या के बढ़ने की दर से बहुत ज़्यादा है। ख़ुद सरकारी थिंकटैंक नीति आयोग ने भी स्वीकार किया था कि फ़िलहाल तक जनसंख्या की तुलना में हमारे पास संसाधनों की कोई कमी नहीं है। इसलिए यह तर्क निराधार है।

दूसरा विभ्रम ये लोग फैलाते हैं कि आरक्षण बेरोज़गारी के लिए ज़िम्मेदार है। ऊपर हमने आँकड़ों से यह देखा है कि एक-एक नौकरी के पीछे हज़ारों फ़ॉर्म भरे जाते हैं। यदि आरक्षण ख़त्म भी हो जाये, तो क्या रोज़गार की समस्या हल हो सकती है? इसका जवाब है नहीं। क्योंकि जब नौकरियाँ ही नहीं हैं तो आरक्षण मिलने और न मिलने से कोई ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता।

तीसरा ये लोग विभ्रम फैलाते हैं कि सरकारी महकमों में कर्मचारियों की ज़रूरत ही नहीं है जो पहले से ही काम कर रहे हैं वो भी ज़रूरत से ज़्यादा हैं। ऐसे में सरकार नयी भर्ती क्यों करे? परन्तु ऐसा नहीं है। संसद में एक सवाल के जवाब में कैबिनेट राज्यमंत्री जितेन्द्र प्रसाद ने ख़ुद माना था कि कुल 4,20,547 पद तो अकेले केन्द्र में ही ख़ाली पड़े हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के निर्माताओं ने ख़ुद माना है कि अकेले स्कूल स्तर पर शिक्षकों के 10,00,000 से ज़्यादा पद ख़ाली पड़े हैं। राज्य और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में तक़रीबन 70,000 पद ख़ाली पड़े हैं। विभिन्न राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में अकेले पुलिस विभाग में 5,49,025 पद ख़ाली हैं। सरकारी हस्पतालों में तक़रीबन 5,00,000 पद ख़ाली पड़े हैं। कुल मिलाकर तक़रीबन 24 लाख पद सरकारी विभागों में ख़ाली पड़े हैं।

अब सवाल ये उठता है कि सरकार इन ख़ाली पड़े पदों को क्यों नहीं भर रही है? इसका कारण सरकार पैसे की कमी का होना बताती है। पर क्या ऐसा वास्तव में है? बिलकुल नहीं। अगर ऐसा होता तो बीजेपी के पहले ही कार्यकाल में सरकारी बैंकों ने पूँजीपतियों के 3,16,000 करोड़ रुपये कैसे माफ़ कर दिये? इन्हीं के कार्यकाल में एनपीए 2,14,000 करोड़ से बढ़कर 8,98,000 करोड़ हो गया है। ये सारा पैसा पूँजीपतियों की ही जेब में गया है। विजय माल्या, नीरव मोदी, मेहुल चौकसी जैसे चोर हज़ारों करोड़ रुपये डकार जाने के बाद भी देश से बाहर कैसे जाने दिये गये? और आज तक पकड़ में क्यों नहीं आये हैं? विज्ञापनों और बड़ी-बड़ी मूर्तियों को खड़ा करने के लिए हज़ारों करोड़ रुपये कहाँ से आ जाते हैं? 2019 का लोकसभा चुनाव दुनिया में दूसरा सबसे ज़्यादा महँगा चुनाव था। सेण्टर फ़ॉर मीडिया स्टडीज़ के अनुसार इस चुनाव पर लगभग 60,000 करोड़ रुपये ख़र्च हुए थे।

बेरोज़गारी का असल कारण

आम तौर पर बेरोज़गारी का कारण पूँजीवादी व्यवस्था की प्रकृति में ही निहित है। पूँजीवादी व्यवस्था को बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी की आवश्यकता होती है। पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़े की ख़ातिर उत्पादन करती है, सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नहीं। एक ऐसी व्यवस्था में हर पूँजीपति अपने मुनाफ़े को अधिक से अधिक बढ़ाने के लिए अन्य पूँजीपतियों से प्रतिस्पर्द्धा में संलग्न रहता है। इसके लिए वह अपनी लागत को कम से कम करना चाहता है, ताकि बाज़ार के बड़े से बड़े हिस्से पर क़ब्ज़ा किया जा सके और अपने मुनाफ़े को बढ़ाया जा सके। इसके लिए वह उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी लगाता है। एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था में उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी का इस्तेमाल मनुष्यों को अधिक से अधिक मुक्त करने और उनके जीवन को अधिक से अधिक सुन्दर बनाने के लिए होना चाहिए। लेकिन मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था में तकनोलॉजी बन्दर के हाथ में उस्तरे के समान होती है। यदि पूँजीवादी उत्पादन ठहरावग्रस्त होता है या संकटग्रस्त होता है, तो उन्नत से उन्नत तकनोलॉजी आने पर बेरोज़गारों की रिज़र्व आर्मी में बढ़ोत्तरी होती है। यदि पूँजीवादी व्यवस्था तेज़ी से गुज़र रही होती है, तो भी तकनोलॉजी आने के साथ श्रम और यंत्रों का अनुपात घटता है, यानी कि प्रति यंत्र श्रमिक संख्या घटती है, लेकिन चूँकि पूँजीवादी उत्पादन का विस्तार हो रहा होता है, इसलिए बेरोज़गारी निरपेक्ष तौर पर बढ़ती नहीं है और कई बार घट भी सकती है। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए जिन तरकीबों का इस्तेमाल करती है, ठीक उन्हीं के कारण नियमित अन्तराल पर संकट के भँवर में भी फँसती रहती है। ऐसे दौरों में बेरोज़गारों की रिज़र्व आर्मी में बढ़ोत्तरी होती है। लेकिन जब पूँजीवादी व्यवस्था में तेज़ी का दौर होता है और उत्पादन का विस्तार होता है तो फिर उसे एक बेरोज़गारों की ऐसी फ़ौज

(पेज 5 पर जारी)

सुप्रीम कोर्ट का गुजरात दंगों पर निर्णय : फ़ासीवादी हुकूमत के दौर में पूँजीवादी न्यायपालिका की नियति का एक उदाहरण

– लता

गुजरात दंगों के 20 साल बाद 24 जून 2022 को इन्हीं दंगों से जुड़ी जाकिया जाफ़री की याचिका को सुप्रीम कोर्ट ने ख़ारिज कर दिया। सभी स्तरों पर अपनी गुहार लगाने और कहीं भी न्याय नहीं मिलने पर आख़िरी उम्मीद के तौर पर जाकिया जाफ़री ने सुप्रीम कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाया था लेकिन वहाँ भी उन्हें निराशा ही हासिल हुई। जाकिया जाफ़री ने अपनी आँखों के सामने दंगाइयों को अपने पति को काटते और जलाते देखा। यह गुलबर्ग सोसाइटी की घटना थी जहाँ वह अपने पति पूर्व सांसद एहसान जाफ़री के साथ रहती थीं। इस याचिका में मोदी के नेतृत्व वाली गुजरात सरकार पर दंगों में शामिल होने का आरोप था। कई लोगों ने इसे सुप्रीम कोर्ट के इतिहास में एक काला दिन कहा और नाउम्मीदी ज़ाहिर की है। लेकिन बुर्जुआ राज्यतंत्र पर फ़ासीवाद के मज़बूत होते शिकंजे को देखते हुए हम समझ सकते हैं कि यह अप्रत्याशित नहीं था।

भारत में फ़ासीवाद के दो प्रमुख चेहरे, मोदी-शाह, दोनों इस केस के अभियोगी थे। यह कैसे सम्भव है कि जब देश में फ़ासीवाद सत्ता पोर-पोर में समा रही है तब न्यायपालिका इससे अछूती रहेगी? ऊपर से कोई भी न्यायाधीश अपना 'लोया' तो नहीं करवाना चाहेगा! कुछ अपवाद हो सकते हैं लेकिन पिछले लम्बे समय से न्यायपालिका ने भी अपने स्वतंत्र होने के स्वाँग को त्याग दिया है।

हम सभी जानते हैं कि फ़रवरी 2002 में, तीन दिनों तक गुजरात के अगल-अलग क्षेत्रों में मौत का कोहराम मचता रहा, सड़कों पर मासूम बच्चों से लेकर नौजवान, महिलाएँ, बुज़ुर्ग सभी भेड़-बकरियों की तरह काटे जाते रहे और राज्य सरकार चुप बैठी रही। सही मायनों में वह चुप नहीं बैठी थी। इस पूरे हत्याकाण्ड, तबाही और आगजनी को सरकारी देखरेख और संरक्षण के बिना किया ही नहीं जा सकता था। यदि ऐसा नहीं होता तो गोधरा में कारसेवकों के जलने के 24 घण्टों के भीतर गली-गली, मुहल्ले-मुहल्ले में लोगों के हाथों में तलवार, छुरा, बारूद, पेट्रोल और एसिड बम इतनी भारी मात्रा में कहाँ से इकट्ठा हो गये? ऐसे सामान आम लोगों के घरों में नहीं होते हैं और न ही रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में इनका कोई इस्तेमाल है। घरों में ज़्यादा से ज़्यादा सब्ज़ी काटने के चाकू या फहसुल होते हैं जिनसे इतनी बड़ी संख्या में लोगों को मारा-काटा नहीं जा सकता। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 1114, और ग़ैर-सरकारी आँकड़ों के अनुसार 2000 लोग मारे गये, जिस तरह की तस्वीरें, वीडियो और आँखों देखे विवरण सामने आये हैं उनसे साफ़ ज़ाहिर होता है कि नरसंहार करने वाले इसकी तैयारी पहले से कर चुके थे। बिना राज्य सरकार के संरक्षण के इतनी भारी मात्रा में हथियारों को एकत्र किया ही नहीं जा सकता था। यह काम गली-मुहल्ले के गुण्डों का नहीं हो सकता था।

दंगों के बाद नरेन्द्र मोदी की राज्य सरकार पर प्रश्न उठने लगे। कई स्वतंत्र जन अदालतों में दंगाइयों के साथ पुलिस की मिली भगत और उन्हें खुली छूट देने के विवरण सामने आये तो सवाल उठने लगे कि राज्य सरकार ने फ़ौरन सेना को बुलाने की माँग क्यों नहीं की? साथ ही दंगा रोकने में पुलिस पर दबाव क्यों नहीं बनाया गया? राज्य सरकार पर उठने वाले सवाल इंगित करने लगे कि यह मुद्दा मात्र दंगे रोकने में नाकामी का नहीं है। बल्कि मोदी के नेतृत्व में गुजरात सरकार का इस नरसंहार को संरक्षण और देखरेख देने में योगदान था। कई पत्रकार व अन्य संगठन स्वतंत्र तौर पर तहक़ीक़ात करने लगे। इसमें से एक हैं राणा अय्यूब, उनकी पुस्तक 'गुजरात फ़ाइल्स' में भी यह बात सामने आयी है कि मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी के निर्देश पर मंत्रियों और उच्च अधिकारियों की योजना के तहत दंगे प्रायोजित किये गये थे।

2002 के बाद का ही दौर था जब फ़ासीवाद अपने प्रभाव वाले राज्यों के अलावा अलग-अलग राज्यों में अपने पाँव पसार रहा था। इन जगहों पर गुजरात दंगों को सर्टिफ़िकेट की तरह इस्तेमाल किया गया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के विभिन्न संगठन जैसे बजरंग दल, दुर्गा वाहनी, विहिप, हिन्दु युवा वाहिनी आदि लोगों को बताते हैं कि गुजरात में जैसा हुआ वही मुसलमानों और अल्पसंख्यकों को अपनी हद में रखने का उपाय है।

वहीं, मोदी और अमित शाह की जोड़ी ने अदालतों में अपना दामन चाक रखने के लिए राज्य सरकार में होते हुए सबूतों को मिटाने के लिए सारे तीन-तीकड़म आज़मायें। किसी जासूसी उपन्यास के अध्यायों की तरह एक के बाद एक कई हत्याएँ, झूठे एनकाउण्टर और गिरफ़्तारियाँ की गयीं तथा हिरासत में यंत्रणाएँ दी गयीं। हिरेन पाण्ड्या की हत्या, इशरत जहाँ एनकाउण्टर, शोहराब्बुदीन शेख़ एनकाउण्टर, आज़म ख़ान की गिरफ़्तारी, जज लोया की संदिग्ध स्थिति में मौत और इनसे जुड़े कई लोगों की मौत। इन सब को देखकर साफ़ लगता है मानो भाजपा कोई आपराधिक गिरोह है और वह राज्य मशीनरी को अपने गिरोह के काम के लिए चला रही है। या इसे इस तरह देख सकते हैं कि बुर्जुआ राज्य मशीनरी पर जैसे-जैसे फ़ासीवादी संघ परिवार की पकड़ बढ़ती गयी वैसे-वैसे उसके जनवाद का खोखला आवरण भी उतरता चला गया।

भारत का फ़ासीवाद बाबरी मस्जिद के बाद अपने दूसरे बड़े काण्ड की तैयारी में था। इस काण्ड का श्रेय मोदी को लेना था जिसकी तैयारी में उसने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। गोधरा में ट्रेन में आग लगाये जाने पर उसी रात यानी 27 फ़रवरी को राज्य के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अपने सरकारी बंगले में एक गुप्त मीटिंग बुलायी जिसमें मंत्री, आला अधिकारी और पुलिस अधिकारी शामिल थे। कुछ स्वतंत्र प्रेक्षकों की जाँच-पड़ताल के अनुसार, इसमें मोदी ने अधिकारियों और राज्य मंत्रियों को स्पष्ट तौर पर कहा कि हिन्दुओं को अपना ग़ुस्सा निकालने दिया जाये और उनके बीच नहीं आया जाये। इस मीटिंग में मंत्री हिरेन पाण्ड्या भी शामिल था। बाद में मीडिया को इस मीटिंग की सूचना उसने दी और कुछ महीनों बाद ही उसकी हत्या हो गयी। इन जाँच अध्ययनों के अनुसार, मोदी-शाह की जोड़ी ने एकदम शातिर दिमाग़ अपराधियों की तरह कई हत्याएँ, एनकाउण्टर करवाये और मौत की धमकियाँ दिलवायीं। इस दौरान समाज में फ़ासीवाद का प्रभाव भी बढ़ रहा था। पूँजीवाद के गहराते संकट के साथ पूँजीपति वर्ग के लिए भी फ़ासीवादी राजनीति का मज़बूत होना आवश्यक था। पूँजीपतियों के मोटे चन्दे पर 'मोदी लहर' को तैयार किया गया और 2014 में मोदी सरकार सत्ता में आयी।

लेकिन तमाम हत्याओं, साज़िशों और एनकाउण्टर के बाद भी गुजरात दंगों का भूत बार-बार किसी-न-किसी गवाह या मामले के रूप में सामने आ ही जाता था। फ़ासीवाद की पैठ राज्यसत्ता में पहले भी थी लेकिन इस पैठ को अभी और गहरा होना था। 2014 में सत्ता में आने के बाद से यह काम फ़ासीवाद ने तेज़ी से किया है। लगभग सभी महत्वपूर्ण पदों पर संघ के वफ़ादार लोगों को बैठाया गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर क्लर्क की भर्ती से लेकर आला अफ़सरों तक की भर्ती सीधे संघ से जुड़े या संघ समर्थकों की होने लगी और हो रही है। मोदी-शाह को अब अपने राजनीतिक ख़तरों से निपटने के लिए पुराने तरीक़ों के मुक़ाबले अब नये तरीक़े ज़्यादा भा रहे हैं। अब सीधे राज्य मशीनरी का इस्तेमाल इनके हाथों में है। पिछले कुछ सालों में जितनी भी राजनीतिक गिरफ़्तारियाँ हुई हैं उनमें से किसी के भी ख़िलाफ़ कोई ठोस सबूत हासिल नहीं हुआ है लेकिन उनकी रिहाई भी नहीं हुई है।

गुजरात दंगों का दाग़ क़ानूनी तौर पर भाजपा को पूरी तरह से धो डालना था। 24 जून को जाकिया जाफ़री की याचिका सुप्रीम कोर्ट ने रद्द कर दी। सुप्रीम कोर्ट ने याचिका रद्द करते हुए अपने आदेश में कहा कि किसी छिपे मक़सद से बस मुद्दे को गरमाये रखने के लिए यह याचिका दायर की गयी थी इसलिए यह न्यायिक प्रक्रिया का दुरुपयोग है। इस प्रक्रिया में शामिल सभी लोगों को कटघरे में खड़ा किया जाना चाहिए और उनपर उचित क़ानूनी कार्रवाई की जानी चाहिए। सुप्रीम कोर्ट का आदेश सुनकर ऐसा लग रहा था मानो इसकी कॉपी अमित शाह के निर्देशन में गृह मंत्रालय में तैयार की गयी हो क्योंकि 25 जून को अमित शाह का एएनआई के साथ साक्षात्कार होता है और इस साक्षात्कार में कई बार अमित शाह तीस्ता सीतलवाड़ का नाम लेता है। 26 तारीख़ की तड़के सुबह तीस्ता सीतलवाड़ की गिरफ़्तारी हो जाती है। तीस्ता गुजरात के दंगों से हताहत लोगों के सन्दर्भ में मानवाधिकार और न्याय के लिए लड़ रही थीं। जाकिया जाफ़री की याचिका में भी वह पहले सह-याचिकाकर्ता थीं। जाकिया जाफ़री के 16 साल के संघर्ष में वह उनके साथ रही थीं। हालाँकि हम एनजीओ की राजनीति से असहमत हैं, लेकिन एनजीओ चलाना क़ानूनी है और तीस्ता सीतलवाड़ का पूरा काम क़ानूनी दायरे में ही है। सबसे ज़्यादा फ़ण्डिंग वाले सबसे ज़्यादा एनजीओ तो स्वयं संघ परिवार चलाता है, जिसकी कोई भी जाँच कभी नहीं की जाती है। बहरहाल, सुप्रीम कोर्ट की टिप्पणी में कोई नाम नहीं था लेकिन अमित शाह ने अपने साक्षात्कार में कई बार तीस्ता सीतलवाड़ का नाम लिया था। तीस्ता सीतलवाड़ को आतंकवाद निरोधी दस्ते (एटीएस) ने उनके मुम्बई के आवास से गिरफ़्तार कर लिया और उनपर कई झूठे इलज़ाम लगाये हैं। उन्हें बिना वारण्ट दिखाये, उनके घर में अवैध रूप से घुसकर तथा क़ानूनी प्रक्रिया को ताक पर रखकर गिरफ़्तार किया गया है। सुप्रीम कोर्ट द्वारा जाकिया जाफ़री याचिका का रद्द किया जाना और अमित शाह के साक्षात्कार के बाद तीस्ता की गिरफ़्तारी साफ़ दिखा रही है कि फ़ासीवाद राज्यसत्ता के सभी स्तम्भों में गहरे समा रहा है। कुछ अपवाद हो सकते हैं लेकिन अगर हमें बस ख़तरों से आँखें मूँदे रहना है और कुछ एक अपवादों के बूते राहत की साँस लेनी है तो इससे फ़ासीवाद का ख़तरा नहीं टलने वाला। फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ एक व्यापक जनान्दोलन खड़ा करने के अलावा आज कोई विकल्प नहीं है। केवल इसी के ज़रिए फ़ासीवादी उभार का मुक़ाबला किया जा सकता है और समूची पूँजीवादी व्यवस्था को कठघरे में खड़ा किया जा सकता है, जिसके बुढ़ापे की बीमार पैदावार फ़ासीवाद होता है।

बेरोज़गारी का गहराता संकट

(पेज 4 से आगे)

की ज़रूरत होती है, जिसके बूते पर विस्तारित पुनरुत्पादन और पूँजी संचय किया जा सके। इन सभी कारणों से पूँजीवादी व्यवस्था के लिए बेरोज़गारी आवश्यक है। यदि सभी को रोज़गार मिल जायेगा तो पूँजीपतियों की मोलभाव की ताक़त शून्य हो जायेगी, जबकि मज़दूर वर्ग की मोलभाव की ताक़त निरपेक्ष रूप से बढ़ जायेगी। पूँजीवाद इसलिए भी बेरोज़गारों की एक रिज़र्व सेना को हमेशा बनाये रखता है। यह वह आम कारण है, जिसके चलते पूँजीवादी व्यवस्था में बेरोज़गारी एक आम और स्थायी परिघटना के तौर पर मौजूद रहती है। अब इस आम और बुनियादी कारण के मातहत ही सरकार की रोज़गार नीति को समझ लेते हैं।

युवाओं को रोज़गार मुहैया न करने के पीछे असल कारण यह है कि अगर सरकार लोगों को रोज़गार मुहैया कराती है, तो बजट का एक हिस्सा इसके लिए आबण्टित करना होगा। अगर ऐसा होता है तो पूँजीपतियों को दिये जाने वाले राहत पैकेज में कमी करनी पड़ेगी। इससे बेरोज़गारों की संख्या में कमी होगी। नतीजतन मज़दूरों की मोलभाव की ताक़त बढ़ जायेगी। और मजबूरन पूँजीपतियों को मज़दूरी बढ़ानी पड़ेगी। यानी औसत मज़दूरी की दर में बढ़ोत्तरी होगी। दोनों ही सूरत में पूँजीपतियों के हितों को चोट पहुँचेगी।

2008 से पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाएँ भयंकर मन्दी की चपेट में हैं। भारत में पहले नोटबन्दी, जीएसटी जैसी जनविरोधी नीतियों और फिर कोविड के कारण हाल और ज़्यादा बदतर हो गये हैं। मन्दी के पीछे मुनाफ़े की गिरती दर का संकट होता है। यह संकट पूँजीवाद की स्वाभाविक गति का नतीजा होता है। जिसका सीधा-सा कारण उत्पादन का सामाजिक स्वरूप और मालिकाने का निजी स्वरूप होता है। इसलिए मन्दी के दौर में ख़ास तौर पर पूँजीपतियों के मुनाफ़े की दर को बनाये रखने के लिए सरकारें जनता की बुनियादी सुविधाओं जैसे शिक्षा, रोज़गार, स्वास्थ्य, आवास, बिजली आदि पर होने वाले ख़र्च में लगातार कटौती कर रही हैं। जिसके कारण बेरोज़गारी, महँगाई, ग़रीबी ने लोगों का जीना मुश्किल कर दिया है। पूँजीवाद में सरकारों का काम पूँजीपतियों के सामूहिक हितों की सेवा करना होता है इसलिए बेरोज़गारी की समस्या का हल पूँजीवादी व्यवस्था के ख़ात्मे के बाद ही हो सकता है।

अय्यंकालि के स्मृति दिवस (18 जून) पर

जाति-उन्मूलन आन्दोलन को अय्यंकालि से सीखना होगा

– अजीत

आज हम भारतीय समाज के उस दौर की बात कर रहे हैं जब भारत के सामाजिक ताने-बाने में जाति व्यवस्था का इस क़दर बोलबाला था जिसकी तुलना आज की स्थिति से नहीं की जा सकती है, जब पूँजीवादी व्यवस्था ने जाति व्यवस्था को समायोजित और सहयोजित कर लिया है। उस समय उच्च जाति के सामन्तों और ब्राह्मणवादियों के अत्याचार से समाज के निचले तबक़ों की, ख़ासकर दलितों की, हालत काफ़ी ज़्यादा ख़राब थी। उनको सड़कों पर चलने की आज़ादी नहीं थी, कुछ विशेष कपड़े तक पहनने का हक़ नहीं था। ऐसे समय में केरल में दलितों के बीच एक ऐसा व्यक्ति आता है जो जातिगत अत्याचार और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ एक ऐसे आन्दोलन की शुरुआत करता है जिसने तत्कालीन समाज की सूरत ही बदल डाली। तत्कालीन समाज के ब्राह्मणवादियों और उनके सत्ता से समानता का हक़ हासिल करने के लिए एक जुझारू लड़ाई लड़ी और कामयाब हुए। हम बात कर रहे हैं केरल के महान जाति विरोधी योद्धा अय्यंकालि की।

अय्यंकालि, जिनका नाम इतिहास के पन्नों में शायद ही कहीं मिलता है, केरल में 28 अगस्त 1863 को पुलयार जाति में जन्मे थे। उन्होंने जाति विरोधी लड़ाई का एक ऐसा रास्ता चुना जिसकी उस पूरे दौर में कोई दूसरी मिसाल देखने को नहीं मिलती। उन्होंने सार्वजनिक सड़क पर चलने के अधिकार के लिए संघर्ष किया। वह सार्वजनिक सड़कों पर हाथों में हथियार लिये चलते थे। इसे देखकर उच्च जातियों और सामन्ती शक्तियों को काफ़ी ग़ुस्सा आता था लेकिन उनके हाथों में हथियार देखकर कोई उनको रोकने का साहस नहीं करता था। ऐसी बग़ावती कार्रवाई ने आगे पूरी रियासत के अन्य दलितों को प्रेरित किया और वे भी ऐसा करने लगे। इस कारण सड़कों पर कई हिंसक टकराव भी हुए जिन्हें चेलियार दंगे के नाम से जाना जाता है। लेकिन आने वाले समय में दलितों ने सार्वजनिक सड़कों पर चलने का हक़ हासिल कर लिया। इसके बाद अय्यंकालि ने पुलियार जाति के बच्चों की शिक्षा का मामला उठाया। उन्हें शिक्षा मिलती थी लेकिन उसके लिए उन्हें ईसाई धर्म स्वीकार करना पड़ता था। अय्यंकालि का मानना था कि सार्वजनिक स्कूलों में बराबरी से शिक्षा का अधिकार होना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने कहने के लिए 1907 में दलित बच्चों के सरकारी स्कूलों में दाख़िले का अधिकार दिया। लेकिन स्थानीय अधिकारी आराम से अधिकार छीन लेते थे। ऐसा नहीं था कि ब्रिटिश सरकार को यह पता नहीं था लेकिन उसने कभी भी ऐसे ब्राह्मणवादियों के ख़िलाफ़ कोई कार्रवाई नहीं की क्योंकि ब्रिटिश सत्ता का सबसे प्रमुख आधार ब्राह्मणवादी सामन्ती शक्तियाँ ही थीं। अय्यंकालि ने 1907 में ही ग़रीबों की सुरक्षा हेतु संगठन बनाया था। पहले तो अय्यंकालि ने पुलयारों द्वारा संचालित स्कूल स्थापित करने के लिए आन्दोलन किया लेकिन इसके बाद उन्होंने आन्दोलन को सरकार और ब्राह्मणवादी सामन्तों के विरोध में कर दिया। इसका कारण था कि उन्होंने एक दलित बच्चे का दाख़िला एक सरकारी स्कूल में करवाने का प्रयास किया लेकिन इसके बदले में ब्राह्मणवादियों ने दलितों पर हमले किये और एक स्कूल को जला दिया। इसके जवाब में अय्यंकालि ने सभी खेतिहर मज़दूरों की एक हड़ताल संगठित की। इनमें से अधिकांश दलित थे। यह आधुनिक भारत में खेतिहर मज़दूरों की पहली हड़ताल थी। इस हड़ताल को अय्यंकालि ने तब तक जारी रखा जब तक सभी बच्चों को सरकारी स्कूल में बिना रोक-टोक दाख़िले का अधिकार नहीं मिल गया। इस दौरान जब भी उच्च जाति के सामन्तों ने दलितों पर हमले किये तो अय्यंकालि के संगठन के नेतृत्व में दलितों ने भी जवाबी हमले किये। इस वजह से उच्च जाति व सामन्तों को हमला करने से पहले सौ बार सोचना पड़ता था और इस तरह उनके हमले नगण्य हो गये। वास्तव में, सरकार के पास अरज़ियाँ देते रहने की बजाय जनता की क्रान्तिकारी कार्रवाई पर भरोसा करने वाले अय्यंकालि के जाति-विरोधी आन्दोलन ने ब्राह्मणवादी शक्तियों के दिल में ख़ौफ़ बिठा दिया था। इस आन्दोलन ने जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी को खोला और उन्हें स्वयं संगठित होकर सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन का रास्ता दिखाया। उस समय यह बहुत बड़ी बात थी।

अय्यंकालि ने पुलयार जाति की स्त्रियों के लिए ऊपरी शरीर को ढँकने के अधिकार के लिए आन्दोलन में केन्द्रीय भूमिका निभायी। इस आन्दोलन में भी अय्यंकालि ने किसी प्रबुद्ध प्रशासक को अर्ज़ियाँ देने या बुद्धिजीवी के द्वारा सरकार को प्रार्थनाएँ और सलाहें पेश करने पर नहीं बल्कि जनता की संगठित पहलक़दमी पर भरोसा किया।

इन सभी आन्दोलनों के ज़रिए अय्यंकालि ने दिखलाया कि समाज में दलितों को वास्तविक अधिकार रैडिकल जन संघर्षों के बूते मिले। उनका पहला ज़ोर हमेशा जनता को रैडिकल संघर्षों के लिए संगठित करने पर होता था जो कि सरकार के विरुद्ध होते थे। वे सरकार को प्रार्थना पत्र लिखने में कम भरोसा करते थे। वे मानते थे कि चीज़ें सरकार को आवेदन पत्र लिखने से नहीं बदलती हैं क्योंकि सरकार दलितों व ग़रीबों के पक्ष में नहीं होती बल्कि शासक वर्ग और ब्राह्मणवादियों की नुमाइन्दगी करती है। वे जानते थे कि इस सरकार के ख़िलाफ़ जुझारू जन संघर्ष के बूते ही चीज़ों को बदला जा सकता है।

अय्यंकालि से आज का जाति-उन्मूलन आन्दोलन क्या सीख सकता है?

अय्यंकालि से आज का जाति-उन्मूलन आन्दोलन तीन चीज़ें सीख सकता है और उसे सीखना ही चाहिए। पहला, जनता की शक्ति और पहलक़दमी पर भरोसा।

दूसरा, आवेदनबाज़ी, अर्ज़ियाँ देने और प्रार्थना-पत्रों के व्यवहारवादी, सुधारवादी, अम्बेडकरवादी रास्तों की बजाय रैडिकल सत्ता-विरोधी जनसंघर्षों से दलित मुक्ति का संघर्ष। अफ़सोस की बात है कि दलित मुक्ति के संघर्ष का बड़ा हिस्सा आज सुधारवाद, व्यवहारवाद और अस्मितावाद के दलदल में धँसा हुआ है। इस व्यवहारवाद की ही तार्किक परिणति के तौर पर आठवले, मायावती, पासवान, उदित राज और थिरुमावलवन जैसे लोग पैदा होते हैं, जो कि सवर्णवादी, प्रतिक्रियावादी और पूँजीवादी शक्तियों की गोद में जाकर बैठ जाते हैं और दलित अस्मिता के नाम पर दलित मेहनतकश आबादी को छलते हैं। जब तक जाति-अन्त आन्दोलन इस अम्बेडकरवादी व्यवहारवाद, सुधारवाद और अस्मितावाद के दलदल से निकलेगा नहीं, तब तक हमारे हालात में कोई बुनियादी सुधार नहीं हो सकता है।

तीसरी सीखने योग्य बात यह कि अय्यंकालि ने जाति अन्त के आन्दोलन को वर्ग संघर्ष से जोड़ दिया, जब उन्होंने खेतिहर मज़दूरों की हड़ताल संगठित की और वह भी इसलिए ताकि सभी दलित बच्चों को सरकारी स्कूलों में बिना भेदभाव के शिक्षा मिल सके। उन्होंने अपने संगठन को भी ग़रीब मेहनतकशों का संगठन बताया न कि किसी जाति-विशेष का। आज भी हमें इस बात को समझना होगा कि हम अगर दलित मुक्ति के संघर्ष में दलित जातिगत अस्मिता को आधार बनायेंगे, तो लड़ाई शुरू करने से पहले ही हार जायेंगे। क्योंकि इसके ज़रिए हम ब्राह्मणवादी ताक़तों को यह मौक़ा देते हैं कि वे ग़ैर-दलित जातियों में भी अस्मितावाद को भड़कायें। यदि सभी जातियाँ अपनी अस्मिताओं के आधार पर रूढ़ हो जायेंगी तो क्या हम जाति-अन्त की लड़ाई को जीत सकते हैं? कभी नहीं!

ब्राह्मणवादी पूँजीवादी शक्तियों को पराजित करने का रास्ता क्या है? यह कि हम ग़ैर-दलित जातियों के ग़रीब मेहनतकश लोगों को भी जाति-अन्त के आन्दोलन के साथ जोड़ दें और उन्हें दिखलायें कि उनके असली दुश्मन स्वयं उनकी जातियों के कुलीन और अमीर हैं, जो कि सारे संसाधनों पर क़ब्ज़ा जमाकर बैठे हैं। समस्त मेहनतकशों की वर्ग एकता के बूते ही दलित मेहनतकश आबादी मेहनतकशों के तौर पर अपने हक़ों को भी जीत सकती है और साथ ही जाति-अन्त के ज़रिए अपनी मुक्ति को हासिल कर सकती है। अस्मिताओं के टकराव में हम हमेशा हारेंगे। इसमें सभी ग़रीब मेहनतकश हारेंगे, चाहे वे किसी भी जाति के हों। इसलिए हमारे संघर्ष की ज़मीन अस्मितावाद और पहचान की राजनीति नहीं हो सकती, बल्कि ग़रीबों और मेहनतकशों की एक ऐसी राजनीति ही हो सकती है जो कि जाति-अन्त के प्रश्न को पुरज़ोर तरीक़े से उठाती हो। इसी वर्ग-आधारित साझे संघर्ष के ज़रिए ही तमाम ग़ैर-दलित जातियों के ग़रीब मेहनतकशों के जातिगत पूर्वाग्रहों को भी एक लम्बी प्रक्रिया में दोस्ताना संघर्ष से ख़त्म किया जा सकता है। ज़रा सोचिए साथियो! क्या आज तक अस्मिताओं के टकराव के रास्ते से समूची मेहनतकश आबादी के जातिगत पूर्वाग्रह ख़त्म हुए हैं, या बढ़े हैं? वे लगातार बढ़े हैं और इसका ख़ामियाज़ा सबसे ज़्यादा आम मेहनतकश दलित आबादी को और समूची मेहनतकश आबादी को उठाना पड़ा है। अय्यंकालि की विरासत हमें दिखलाती है कि सत्ता के ख़िलाफ़ आमूलगामी संघर्ष और जाति अन्त की लड़ाई में समूची मेहनतकश जनता को साथ लेकर ही हम जाति व्यवस्था के ख़िलाफ़ कारगर तरीक़े से लड़ सकते हैं।

18 जून को अय्यंकालि का 79वाँ स्मृतिदिवस था। कई जाति-विरोधी व्यक्तित्वों को ख़ुद भारत की सरकार ने आज़ादी के बाद से ही प्रचारित-प्रसारित किया है लेकिन अय्यंकालि को नहीं। क्यों? क्योंकि अय्यंकालि आमूलगामी तरीक़े से और जुझारू तरीक़े से सड़क पर उतरकर संघर्ष का रास्ता अपनाते थे; क्योंकि अय्यंकालि सरकार की भलमनसाहत या समझदारी के भरोसे नहीं थे, बल्कि जनता की पहलक़दमी पर भरोसा करते थे। वह कोई सुधारवादी या व्यवहारवादी नहीं थे, बल्कि एक रैडिकल जाति-विरोधी योद्धा थे। यही कारण है कि सरकार अय्यंकालि के रास्ते और विचारों के इस पक्ष को हमसे बचाकर रखती है। क्योंकि यदि मेहनतकश दलित और दमित जनता उनके बारे में जानेगी, तो उनके रास्ते के बारे में भी जानेगी और यह मौजूदा पूँजीवादी व जातिवादी सत्ता ऐसा कभी नहीं चाहेगी कि उसके विरुद्ध रैडिकल संघर्ष के रास्ते को जनता जाने और अपनी पहलक़दमी में भरोसा पैदा करे। यही कारण है कि अय्यंकालि की विरासत को जनता की शक्तियों को याद करना चाहिए। उनकी स्मृतियों को, प्रगतिशील ताक़तों को जीवित रखना चाहिए। उनके आन्दोलन के रास्ते को व्यापक मेहनतकश और दलित जनता में हमें ले जाना होगा। केवल ऐसा करके ही हम अय्यंकालि को सच्ची आदरांजलि दे सकते हैं। उनको याद करने का यही सबसे बेहतर तरीक़ा हो सकता है।

भगतसिंह ने कहा

"कहावत है – 'लातों के भूत बातों से नहीं मानते'। अर्थात् संगठनबद्ध हो अपने पैरों पर खड़े होकर पूरे समाज को चुनौती दे दो। तब देखना, कोई भी तुम्हें तुम्हारे अधिकार देने से इन्कार करने की जुर्रत न कर सकेगा। तुम दूसरों की ख़ुराक मत बनो। दूसरों के मुँह की ओर न ताको। लेकिन ध्यान रहे, नौकरशाही के झाँसे में मत फँसना। यह तुम्हारी कोई सहायता नहीं करना चाहती, बल्कि तुम्हें अपना मोहरा बनाना चाहती है। यही पूँजीवादी नौकरशाही तुम्हारी ग़ुलामी और ग़रीबी का असली कारण है। इसलिए तुम उसके साथ कभी न मिलना। उसकी चालों से बचना। तब सब कुछ ठीक हो जायेगा। तुम असली सर्वहारा हो... संगठनबद्ध हो जाओ। तुम्हारी कुछ भी हानि न होगी। बस ग़ुलामी की ज़ंजीरें कट जायेंगी। उठो, और वर्तमान व्यवस्था के विरुद्ध बग़ावत खड़ी कर दो। धीरे-धीरे होनेवाले सुधारों से कुछ नहीं बन सकेगा। सामाजिक आन्दोलन से क्रान्ति पैदा कर दो तथा राजनीतिक और आर्थिक क्रान्ति के लिए कमर कस लो। तुम ही तो देश का मुख्य आधार हो, वास्तविक शक्ति हो। सोये हुए शेरो! उठो और बग़ावत खड़ी कर दो।"

– 'अछूत समस्या' लेख से

“बुलडोज़र” बन रहा है फ़ासिस्ट हुक्मरानों की दहशत की राजनीति का नया प्रतीक-चिह्न!

– शिवानी

भारत के फ़ासिस्ट शासकों ने विशिष्ट तौर पर मुसलमानों और आम तौर पर राजनीतिक विरोधियों के ख़िलाफ़ अपनी नफ़रती मुहिम जारी रखते हुए पूरे देश में ही दहशत फैलाने के इरादे से अब एक नये हथियार के तौर पर “बुलडोज़र” का इस्तेमाल शुरू कर दिया है। फ़ासीवादी सत्ता बुलडोज़र के ज़रिए समुदाय विशेष के ख़िलाफ़ सार्वजनिक “सामूहिक दण्ड” और “त्वरित न्याय” का एक वीभत्स तमाशा, एक ‘स्पेक्टकल’ निर्मित कर रही है। उत्तर प्रदेश में फ़ासिस्ट योगी आदित्यनाथ की भाजपा सरकार ने बुलडोज़र को “सुशासन” और “क़ानून व्यवस्था” के खोखले जुमलों के पर्याय के तौर पर स्थापित करने के लिए कई मुसलमान नागरिकों और कार्यकर्ताओं के घर ढहाने को ही इस वक़्त अपना प्रमुख एजेण्डा बनाया है। आदित्यनाथ ने कहा भी था कि “हिंसा और तोड़-फोड़” में शामिल लोगों के ख़िलाफ़ ऐसी कार्रवाई की जायेगी कि वे उदहारण बन जायें और फिर कोई डर के कारण ऐसा न कर सके। उत्तर प्रदेश के बाद अन्य भाजपा शासित राज्यों में भी “बुलडोज़र राज” के ज़रिए मुसलमान समुदाय को चुप कराने और डराने का काम बेहद मुस्तैदी के साथ अंजाम दिया गया। फ़ासिस्टों के हाथ में अब बुलडोज़र कोई निर्जीव वस्तु मात्र नहीं है, बल्कि फ़ासीवादी राजनीति का नवीनतम प्रतीक-चिह्न बन गया है। ऊपर से तुर्रा यह कि दिन-दहाड़े खुलेआम धड़ल्ले से की जा रही ऐसी ग़ैर-क़ानूनी कार्रवाई को “क़ानून बनाये रखने” और “क़ानून की हिफ़ाज़त करने” का नाम दिया जा रहा है!

“घर वापसी”, “लव जिहाद”, “गौ हत्या” के नाम पर मॉब लिंचिंग आदि के बाद अब “बुलडोज़र” भारतीय फ़ासिस्टों के हाथ में उस उस्तरे का काम कर रहा है जिससे वे अपने ख़िलाफ़ उठ खड़े हो रहे हर प्रकार के विरोध की नस काट रहे हैं। यह बात अब आम हो गयी है कि कोई भी विरोध या प्रदर्शन की घटना होने पर प्रशासन तुरन्त “आरोपी” के घर को अवैध घोषित कर ‘बैक डेट’ में नोटिस जारी करके घर तोड़ने पहुँच जाता है। ज़ाहिरा तौर पर इस वक़्त इस मुहिम में मुसलमान उनके निशाने पर सबसे ऊपर हैं। हालाँकि यह अनायास नहीं है। वास्तव में मुसलमान नागरिकों व सामाजिक कार्यकर्ताओं के घरों-दुकानों पर बुलडोज़र चलाकर आर्थिक व सामाजिक तौर पर उनकी कमर तोड़ने का काम किया जा रहा है। साथ ही, आने वाले दिनों में सीएए-एनआरसी क़ानून को फिर से लाने की मंशा गृहमंत्री अमित शाह पहले ही जता चुका है। ऐसी सूरत में फिर कोई विरोध न उठ खड़ा हो सके इसके लिए भी अभी से ही राज्य मशीनरी डर और ख़ौफ़ का माहौल तैयार कर रही है। बुलडोज़र की राजनीति के पीछे फ़ासिस्ट राज्यसत्ता की यह चिन्ता और सरोकार भी है।

मौजूदा दौर हमारे देश में फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा लागू किया जा रहा एक अघोषित आपातकाल है और घोषित तौर पर आतंक का राज है जिसमें “विकास” के हवाई दावों और राष्ट्रवाद के मिथकीय शोर के बीच प्रतिरोध की हर आवाज़ सत्ता द्वारा पाशविक बल प्रयोग कर कुचली जा रही है जिसका नवीनतम अवतार “बुलडोज़र की राजनीति” के रूप में सामने आ रहा है।

2014 में नरेन्द्र मोदी के सत्तासीन होने के बाद से और वर्तमान दौर में भारतीय पूँजीपति वर्ग की सबसे पसन्दीदा पार्टी होने के नाते भाजपा ने सम्पत्तिधारी वर्गों के लिए शोषण, लूट और दमन का रास्ता बिल्कुल साफ़ कर दिया। इस बीच जहाँ कहीं कोई विरोध का स्वर फूटा, वहीं फ़ासिस्ट सत्ताधारियों ने उसे कुचलने का पूरा इन्तज़ाम भी चाक-चौबन्द कर दिया। इसके अलावा, शासन-प्रशासन, नौकरशाही, पुलिस, सशस्त्र बलों, न्यायपालिका, चुनाव आयोग, मीडिया आदि में पहले ही अपने रंगरूटों की सुव्यवस्थित घुसपैठ और इन तमाम बुर्जुआ संस्थाओं के भीतर से फ़ासिस्टीकरण के ज़रिए फ़ासिस्टों ने अपना रास्ता बेहद सुगम बनाया। यही नहीं, सीबीआई, आयकर विभाग, प्रवर्तन निदेशालय जैसी एजेंसियाँ आज राजनीतिक विरोधियों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, लेखकों, बुद्धिजीवियों आदि को प्रताड़ित करने के हथियार बन चुकी हैं। वहीं भारतीय संविधान के बाहरी खोल को क़ायम रखते हुए बिना किसी प्रत्यक्ष छेड़छाड़ के उसकी अन्तर्वस्तु को अपने हितों के अनुरूप ढालने का काम भी फ़ासीवादी सत्ता ने किया जिसमें संविधान के मूल चरित्र और प्रकृति ने फ़ासिस्टों की स्वयं ही काफ़ी मदद कर दी। यह उन लोगों के लिए भी सबक़ है जो आज संविधान बचाने की गुहार लगा रहे हैं और फ़ासीवाद को “जय संविधान” के हास्यास्पद नारे से हराने की अहमकाना बातें कर रहे हैं।

जैसा कि हमने ‘मज़दूर बिगुल’ के पन्नों पर बार-बार दुहराया है कि फ़ासीवाद दरअसल टुटपुँजिया वर्गों का प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन और एक रुमानी उभार है जो बड़े पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा करता है। भारत में मुसलामानों को छद्म दुश्मन क़रार देकर संघ परिवार और भाजपा द्वारा अपने कैडर और भक्तों को हमेशा ही उनके ख़िलाफ़ दंगे भड़काने और हिंसा करने की खुली छूट दी गयी है। ऐसे लोगों को “फ्रिन्ज एलिमेण्ट्स” की संज्ञा देकर ऐन मौक़े पर अपना पल्ला झाड़ लेने का स्कोप भी भारतीय फ़ासिस्टों ने बचाकर रखा जबकि सच्चाई तो यह है कि फ़ासीवाद की इन प्रतिक्रियावादी तात्विक शक्तियों को फलने-फूलने की ज़मीन ख़ुद संघ परिवार ही मुहैया करवाता है। मोदी राज के पिछले आठ सालों में तो अनगिनत दंगों, हमलों और हिंसा की वारदातों की फ़ेहरिस्त बनायी जा सकती है जिसमें दंगों के दौरान हिंसा-आगजनी और लूटपाट के पीड़ितों को ही दंगाइयों के रूप में पेश किया गया, उन्हें “क़ानूनी” तौर पर प्रताड़ित किया गया, बिना किसी दलील और अपील के दण्डित कर दिया गया, उनकी सम्पतियाँ ज़ब्त कर ली गयीं और अब उनके घरों को ही बुलडोज़रों से रौंदा जा रहा है। दरअसल आज के दौर में यह “बुलडोज़र” फ़ासिस्ट मशीनरी और शासन व्यवस्था का प्रतीक-चिह्न बन गया है। कहीं “विकास” के नाम पर ग़रीबों के कच्चे मकानों को ढहाने के लिए इन विशालकाय बुलडोज़रों को सड़कों पर दौड़ाया जा रहा है तो कहीं इन्हें “अवैध निर्माण” को ख़त्म करने के नाम पर धार्मिक अल्पसंख्यकों के घरों-दुकानों को ज़मीन्दोज़ करने के लिए इस्तेमाल में लाया जा रहा है।

ग़ौरतलब है कि भारतीय फ़ासिस्ट सत्ता इस आतंक-राज को क़ायम करने की शिक्षा-दीक्षा अपने इज़रायली ज़ायनवादी बिरादरों से ग्रहण कर रही है। इज़रायली ज़ायनवादियों द्वारा वर्षों से फ़िलिस्तीनियों के घरों का विध्वंस ऐसे ही जारी है। इज़रायल की ही तरह भारत में फ़ासीवादी सत्ता ने, कुछ विशेषज्ञों के शब्दों में, ‘किलिंग होम’ या फिर ‘डोमिसाइड’ नीति यानी विरोधियों के घर ढहाने की नीति अपनाकर अपने विरुद्ध उठने वाली आवाज़ों को दबाने का नया औज़ार “बुलडोज़र” के रूप में ढूँढ़ निकाला है ताकि अपने विरोधियों को सामाजिक-आर्थिक तौर पर और अरक्षित बनाया जा सके। ‘डोमिसाइड’ की यह रणनीति आम तौर पर युद्धों के दौरान इस्तेमाल में लायी जाती है जिसमें आबादी के नरसंहार के साथ उनके घरों का विनाश भी शामिल होता है। दमन के इस औज़ार का इस्तेमाल इज़रायली सत्ता फ़िलिस्तीनियों के ख़िलाफ़ वर्षों से करती रही है जहाँ घरों के निर्माण को अवैध क़रार देकर 24 घण्टे के भीतर उन्हें ध्वस्त करने के नोटिस दिये जाते हैं और फ़िलिस्तीनियों को या तो ख़ुद ही अपने घरों को तोड़ने के लिए कहा जाता है अन्यथा नगर पालिका उनके घरों को ढहाती है। वास्तव में इज़रायल द्वारा इस नीति के पीछे की मूल वजह फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष और प्रतिरोध को कुचलना ही था। यही काम आज उत्तर प्रदेश में योगी आदित्यनाथ से लेकर मध्य प्रदेश में शिवराज सिंह चौहान कर रहे हैं : विरोध और प्रतिरोध की हर आवाज़ को डर और दहशत के साये में इस क़दर डुबो दो कि आइन्दा कोई प्रतिकार करने की गुस्ताख़ी ही न करे!

हालाँकि दण्डात्मक विध्वंस की यह नीति इज़रायल को भारी ही पड़ी है। ज़ायनवादियों की सोच के विपरीत ज़्यादा से ज़्यादा फ़िलिस्तीनी अपनी ज़मीन पर इज़रायल के क़ब्ज़े के विरुद्ध चल रहे मुक्ति संघर्ष में शामिल हो रहे हैं और इज़रायली उपनिवेशवादियों के ख़िलाफ़ नफ़रत ज़बर्दस्त रूप में बढ़ी है। भारत में भी वर्तमान दौर में “बुलडोज़र राज” स्थापित करके फ़ासीवादी सत्ता हर राजनीतिक विरोध और संघर्ष को कुचलना चाहती है।

भाजपा शासित राज्य सरकारों ने बुलडोज़र की राजनीति पर अमल को नगर निगम के नियमों के उल्लंघन और अवैध निर्माण व अतिक्रमण विरोधी अभियान की संज्ञा दी है! यह ऐसी हास्यास्पद दलील है जिसपर भाजपा के समर्थक भी यक़ीन नहीं करते हैं। “अवैध अतिक्रमण” हटाने के नाम पर मुसलमानों के घरों को गिराने के दण्डात्मक विध्वंस का काम मुख्य तौर पर इस साल अप्रैल में शुरू किया गया। इस वर्ष रामनवमी के अवसर पर हिन्दुत्ववादियों द्वारा निकाले गये जुलूसों में जगह-जगह मुसलमान-विरोधी नारे लगाये गये और भड़काऊ भाषण दिये गये। इसके परिणामस्वरूप कई स्थानों पर झड़पें हुईं। फिर मुसलमान नागरिकों और कार्यकर्ताओं के विरुद्ध प्रतिशोधात्मक कार्रवाई करते हुए “सामूहिक दण्ड” देने के इरादे से गुजरात और मध्यप्रदेश से लेकर दिल्ली में सरकारों और नगर पालिकाओं ने मुसलमानों के घरों और दुकानों को बुलडोज़र से सपाट करना शुरू कर दिया। लेकिन इस “बुलडोज़र राज” का चरम उत्तर प्रदेश में देखने को मिला जो अब हिन्दुत्व फ़ासीवाद की सबसे सफल प्रयोगशालाओं में से एक बन चुका है।

ग़ौरतलब है कि दो वर्ष पहले ही उत्तर प्रदेश में योगी आदित्यनाथ की सरकार ने ‘यूपी रिकवरी ऑफ़ डैमेज टू पब्लिक एण्ड प्राइवेट प्रॉपर्टी एक्ट’ बनाया था। योगी सरकार ने 2019-20 में नागरिकता संशोधन क़ानून के विरुद्ध चले आन्दोलन में शामिल कार्यकर्ताओं और प्रदर्शनकारियों पर कार्रवाई करते हुए सार्वजनिक और निजी सम्पत्ति को हुए नुक़सान की भरपाई के नाम पर “मुआवज़ा” माँगा था। ज्ञात हो कि उस समय उत्तर प्रदेश प्रशासन द्वारा आन्दोलन में शामिल कार्यकर्ताओं की तस्वीरें, नाम और पतों के साथ जगह-जगह पर लगवा दी गयी थीं जिसका विरोध भी हुआ था। यह पोस्टर और होर्डिंग योगी सरकार द्वारा महज़ पुलिस द्वारा दर्ज की गयी प्राथमिकियों के आधार पर लगवाये गये थे। दोष-सिद्धि की तो बात ही क्या करें! हालाँकि बाद में उच्चतम न्यायलय के एक आदेश के बाद वसूली के सारे नोटिस रद्द कर देने पड़े थे। इस “क़ानूनी” सरदर्द से निपटने के लिए ही योगी सरकार ने बेहद क़ानूनी व संवैधानिक रास्ते से उपरोक्त क़ानून बना दिया!

अब अग्निपथ योजना को लेकर हो रहे विरोध से निपटने के लिए भी योगी सरकार इसी क़ानून के अन्तर्गत प्रदर्शनकारियों से वसूली करने का बन्दोबस्त कर रही है। उत्तर प्रदेश प्रशासन ने कहा है कि सार्वजनिक व निजी सम्पत्तियों को हुए नुक़सान के लिए राज्य सरकार “मुआवज़े” की वसूली करेगी। उत्तर प्रदेश में विशेष तौर पर विरोध और असहमति के स्वरों को ध्वस्त करने के लिए इस नये क़ानून के साथ ही अब बुलडोज़र का इस्तेमाल भी किया जा रहा है। अब तो विरोध-प्रदर्शनों को रोकने के लिए पुलिस व प्रशासन के अधिकारी खुलेआम “बुलडोज़र” की धमकी दे रहे हैं! भाजपा प्रवक्ता नुपुर शर्मा के विवादित बयान के विरोध में इलाहाबाद में हुए प्रदर्शन में शामिल एक मुसलमान प्रदर्शनकारी के घर को स्थानीय प्रशासन ने आनन-फ़ानन में गिरा भी दिया था।

मध्य प्रदेश में खरगोन से लेकर दिल्ली में जहांगीरपुरी तक यही बुलडोज़र की राजनीति आज मुसलामानों के दिलोदिमाग़ में ख़ौफ़ पैदा करने के लिए सड़कों पर अंजाम दी जा रही है। इसका असली “श्रेय” तो योगी आदित्यनाथ को ही जाता है जिसने उत्तर प्रदेश चुनावों में भी बुलडोज़र के चिह्न का काफ़ी इस्तेमाल किया। जगह-जगह “बाबा का बुलडोज़र” वाले बैनरों के साथ सड़कों पर बुलडोज़र निकाले गये। यह प्रतीकवाद दरअसल फ़ासीवादी राजनीति का एक अहम अंग है जो “मज़बूत”, “सख़्त” और “पौरुषपूर्ण” प्रतीकों के मिथक को स्थापित करके आम जनमानस में एक विशिष्ट क़िस्म के नेता की छवि का निर्माण करता है। “बुलडोज़र” का प्रतीक भारतीय फ़ासीवादियों के लिए यही मिथक गढ़ने का काम कर रहा है। उत्तर प्रदेश में आदित्यनाथ “बाबा बुलडोज़र” बन गया है तो मध्य प्रदेश में शिवराज सिंह चौहान “मामा बुलडोज़र” कहला रहा है।

फ़ासीवादी सरकारें “क़ानून के राज” को क़ायम करने के लिए आम मुसलमानों के घरों पर ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से बुलडोज़र चला रही हैं और पूँजीवादी विपक्षी दलों से लेकर उच्चतम न्यायलय समेत सभी अदालतें तक इस आतंक और दहशत के ताण्डव को मूक दर्शक बने देख रहे हैं। ऐसे हज़ार मामलों में से किसी एक मामले में यदि अदालतें हस्तक्षेप करती भी हैं तो संशोधनवादियों, सामाजिक-जनवादियों समेत पूरा वाम-उदार तबक़ा लहालोट हो उठता है मानो क्या ग़ज़ब का काम किया हो! जिन 999 मामलों में अदालतों की ज़ुबान पर ताले लटके रहते हैं उनको विस्मृति के अँधेरे में धकेल दिया जाता है और उनपर कोई बात भी नहीं होती है। यह भी सोचने

(पेज 8 पर जारी)

कश्मीर में अल्पसंख्यकों और प्रवासी मज़दूरों की हत्या की बढ़ती घटनाएँ

कश्मीरी पण्डितों के नाम पर राजनीतिक रोटियाँ सेंकने वाले फ़ासिस्टों के लिए शर्मनाक स्थिति

– आनन्द

5 अगस्त 2019 को निहायत ही ग़ैर-जनवादी ढंग से संविधान के अनुच्छेद 370 को निष्प्रभावी बनाते हुए जम्मू व कश्मीर का विशेष राज्य का दर्जा छीनने के बाद मोदी-शाह की हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट सरकार कई बार यह बेशर्मी-भरा दावा कर चुकी है कि कश्मीर में हालात सामान्य हो चुके हैं। लेकिन हाल के दिनों में कश्मीर घाटी में कश्मीरी पण्डितों, प्रवासी मज़दूरों और स्थानीय पुलिसकर्मियों की लक्षित हत्याओं ने केन्द्र सरकार के इन खोखले दावों की पोल खोलकर रख दी है। घाटी में हालात इतने बिगड़ चुके हैं कि वे कश्मीरी पण्डित सरकारी कर्मचारी जिन्हें एक दशक से भी ज़्यादा समय पहले प्रधानमंत्री की विशेष योजना के तहत घाटी में पुनर्वास के मक़सद से लाया गया था, उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए सड़कों पर उतरकर प्रदर्शन करने को मजबूर होना पड़ रहा है। यहाँ तक कि वे सामूहिक पलायन या सामूहिक इस्तीफ़ा देने की भी धमकी दे रहे हैं। ऐसे में कश्मीरी पण्डितों के नाम पर दशकों से राजनीतिक रोटियाँ सेंकने वाले फ़ासिस्ट संघ परिवार तथा मोदी-शाह सरकार के लिए एक शर्मनाक स्थिति पैदा हो चुकी है।

अभी ज़्यादा समय नहीं बीता है जब समूचा संघ परिवार विवेक अग्निहोत्री की प्रोपगैण्डा फ़िल्म 'द कश्मीर फ़ाइल्स' का जमकर प्रचार करते हुए ख़ुद को कश्मीरी पण्डितों का रहनुमा घोषित करने में जुटा था। लेकिन कश्मीर घाटी में लगातार जारी लक्षित हत्याओं ने 1989-90 के दौरान हुई कश्मीरी पण्डितों की लक्षित हत्याओं का आँकड़ा पार कर लिया है और वह भी तब जबकि घाटी में कश्मीरी पण्डितों की संख्या 1989-90 की तुलना में बेहद कम हो चुकी है। ग़ौरतलब है कि 2019 में जम्मू व कश्मीर से विशेष राज्य का दर्जा छीनने के बाद से अब तक कश्मीर घाटी में आतंकियों द्वारा कश्मीरी पण्डितों और ग़ैर-कश्मीरी प्रवासी मज़दूरों की कुल 16 लक्षित हत्याएँ की जा चुकी हैं। इसके अतिरिक्त कई कश्मीरी मुस्लिम पुलिसकर्मियों और भाजपा व संघ परिवार से क़रीबी रखने वाले कश्मीरी मुस्लिमों की भी हत्याएँ हुई हैं। ये हत्याएँ यह दिखाती हैं कि मोदी-शाह सरकार की तमाम नीतियों की ही तरह कश्मीर के राष्ट्रीय दमन पर आधारित उनकी कश्मीर नीति भी फिसड्डी साबित हुई है।

2019 में जम्मू व कश्मीर का विशेष राज्य का दर्जा छीनने के बाद कश्मीरियों के सम्भावित प्रतिरोध को खड़ा होने से रोकने के लिए केन्द्र सरकार ने घाटी में सेना की तादाद बढ़ायी और वहाँ लम्बे समय तक तालाबन्दी जारी रखते हुए इण्टरनेट पर अभूतपूर्व पाबन्दी लगायी। सभी प्रमुख कश्मीरी राजनेताओं और अलगाववादी नेताओं को महीनों तक नज़रबन्द रखा गया। इन तानाशाहाना क़दमों के ख़िलाफ़ कोई आलोचनात्मक आवाज़ न उठे, इसके लिए घाटी के तमाम स्वतंत्र मीडिया संस्थानों और पत्रकारों की ज़ुबान पर ताला लगाने के लिए यूएपीए जैसे कुख्यात क़ानूनों का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल किया गया। यही नहीं 2019 से ही जम्मू व कश्मीर को दो हिस्सों में विभाजित करके उसे केन्द्र शासित प्रदेश में तब्दील करके वहाँ जो नाममात्र की लोकतांत्रिक प्रक्रिया चल रही थी उसे भी पूरी तरह से रद्द कर दिया गया। इसके अतिरिक्त देशभर में हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों द्वारा मुसलमानों के ख़िलाफ़ नफ़रत फैलाने के मक़सद से की जा रही तमाम घृणित कार्रवाइयों की वजह से भी कश्मीरियों का भारतीय राज्य से अलगाव पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ा है।

इसी बीच केन्द्र सरकार ने निहायत ही शातिराना ढंग से जम्मू व कश्मीर के निर्वाचक मण्डलों का परिसीमन कराकर नयी बढ़ी हुई सीटों में कश्मीर घाटी को जम्मू की तुलना में कम सीटें आवण्टित की हैं। इसके पीछे केन्द्र सरकार की मंशा चुनावी राजनीति में जम्मू की तुलना में कश्मीर घाटी का महत्व कम करने की है क्योंकि जम्मू में भाजपा का बड़ा जनाधार है, हालाँकि जनसंख्या के हिसाब से कश्मीर घाटी की जनसंख्या जम्मू की तुलना में कहीं ज़्यादा है। इसी प्रकार अनुच्छेद 370 और 35 ए को निष्प्रभावी बनाने के साथ ही जम्मू-कश्मीर में बाहर के निवासियों को ज़मीन ख़रीदने की इजाज़त देकर और सेना की मदद से घाटी में नयी बस्तियाँ बनाने की परियोजनाओं को मंज़ूरी देकर केन्द्र सरकार ने कश्मीरी क़ौम के दमन और उत्पीड़न को पहले से कई गुना ज़्यादा बढ़ाया है।

उपरोक्त असामान्य क़दमों को उठाकर केन्द्र सरकार ने कश्मीर घाटी के हालात को सामान्य दिखाने की हास्यास्पद कोशिश की। 2019 के बाद से घाटी में अभी तक किसी बड़े जनउभार की ग़ैर-मौजूदगी और इस साल घाटी में पर्यटकों की रिकॉर्ड संख्या को कश्मीर में हालात सामान्य होने के संकेत के रूप में प्रचारित किया गया। लेकिन 2019 से अब तक घाटी में कोई बड़ा जनउभार न होने और घाटी में पर्यटकों की संख्या में बढ़ोत्तरी से कोई मूर्ख या नादान व्यक्ति ही यह नतीजा निकालेगा कि भारतीय राज्य के ख़िलाफ़ कश्मीरियों का ग़ुस्सा ठण्डा हो गया है। कश्मीरियों के संघर्ष के इतिहास से वाक़िफ़ कोई भी व्यक्ति यह जानता है कि वहाँ बड़े जनउभारों की परिघटना लगातार नहीं देखने में आती है बल्किअक्सर ऐसे जनउभारों के बीच समय का अन्तराल होता रहा है और इस अन्तराल के दौरान जब भारतीय राज्य के ख़िलाफ़ लोगों का ग़ुस्सा जनउभारों के रूप में सतह पर नहीं दिखता है तब भी वह सतह के नीचे मौजूद रहता है।

सच तो यह है कि मोदी-शाह सरकार की नीतियों ने कश्मीरियों के अलगाव और ग़ुस्से को अभूतपूर्व रूप से बढ़ाने का ही काम किया है। लोगों के ग़ुस्से को सामूहिक प्रतिरोध की रणनीति में तब्दील करने में सक्षम नेतृत्व की ग़ैर-मौजूदगी का लाभ उठाकर घाटी में 'द रेजिस्टेंस फ्रण्ट' और 'कश्मीर टाइगर्स' जैसे नये आतंकी समूह पनप रहे हैं जिन्हें पाकिस्तान का समर्थन प्राप्त है। इन आतंकी समूहों ने ही हाल में हुई लक्षित हत्याओं की ज़िम्मेदारी ली है। सरकार की ख़ुफ़िया एजेंसियाँ स्वयं यह बता रही हैं कि जहाँ कुछ साल पहले तक कश्मीर से युवाओं द्वरा बन्दूक़ उठाने और आतंकी संगठनों में शामिल होने की प्रक्रिया थम रही थी, वहीं अब यह फिर से गति पकड़ रही है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ इस साल जनवरी से अप्रैल तक 49 कश्मीरी युवा आतंकी संगठनों में शामिल हुए हैं जबकि पिछले साल इसी अन्तराल में यह संख्या 42 थी। ऐसे आतंकियों को मारने के नाम पर की जाने वाली फ़र्ज़ी मुठभेड़ों में अनेक निर्दोष कश्मीरी भी मारे जा रहे हैं जिसकी वजह से कश्मीरियों का ग़ुस्सा और अलगाव और बढ़ता है जिसका लाभ अन्ततः इन आतंकी संगठनों को ही मिलता है क्योंकि किसी अन्य विकल्प की ग़ैर-मौजूदगी में कुछ कश्मीरी नौजवान अपने ग़ुस्से को अभिव्यक्ति देने के लिए इन आतंकी समूहों की ओर भी रुख करते हैं। चूँकि इन समूहों के पास विशालकाय भारतीय सैन्यबल से सीधे मुक़ाबला करने की ताक़त व संसाधन नहीं मौजूद हैं इसलिए वे अल्पसंख्यकों व प्रवासी मज़दूरों जैसे आसान लक्ष्यों को निशाना बनाकर दहशत पैदा करने की रणनीति अपना रहे हैं।

कहने की ज़रूरत नहीं कि इस प्रकार निर्दोषों की लक्षित हत्या की बदहवास कार्रवाइयों को किसी भी रूप में जायज़ नहीं ठहराया जा सकता है और अन्ततोगत्वा ये कार्रवाइयाँ कश्मीरियों के आत्मनिर्णय की न्यायसंगत लड़ाई को कमज़ोर करने का ही काम करती हैं। परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इन हत्याओं के लिए सीधे तौर पर हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों के नेतृत्व में लागू की जा रही भारतीय राज्य की तानाशाहाना नीतियाँ ही ज़िम्मेदार हैं क्योंकि ये नीतियाँ ही वे हालात पैदा कर रही हैं जिसकी वजह से कुछ कश्मीरी युवा बन्दूक़ उठाकर निर्दोषों का क़त्ल करने से भी नहीं हिचक रहे हैं। इसलिए कश्मीर में शान्ति क़ायम करने की मुख्य ज़िम्मेदारी भारतीय राज्य के कन्धों पर है जिसे पूरा करने में वह नाकाम साबित हुआ है।

"बुलडोज़र" बन रहा है फ़ासिस्ट हुक्मरानों की दहशत की राजनीति का नया प्रतीक-चिह्न!

(पेज 7 से आगे)

वाली बात है कि बुलडोज़र द्वारा ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से मुसल्मानों के घरों को गिराये जाने के एक भी मसले में सर्वोच्च न्यायलय या उच्च न्यायालयों ने स्वतः संज्ञान नहीं लिया। इसके लिए भी पूर्व न्यायाधीशों को सर्वोच्च न्यायलय के मुख्य न्यायाधीश से अदालती हस्तक्षेप की गुहार लगानी पड़ी थी। क्या यह मौजूदा न्याय व्यवस्था के बारे में कुछ नहीं बताता? वैसे जब उच्चतम न्यायलय और उच्च न्यायलयों के न्यायाधीश सत्ताधारी पार्टी और उसके नेता-मंत्रियों की प्रशंसा सार्वजनिक मंचों से कर रहे हों और सेवानिवृत्ति के बाद "पुरस्कृत" हो रहे हों तो इस बात का अन्दाज़ा अपने आप ही लगाया जा सकता है कि इन बुर्जुआ संस्थाओं का फ़ासीवादीकरण किस हद तक हो चुका है। भारतीय संविधान में दर्ज शक्तियों के पृथक्करण की तमाम लफ़्फ़ाज़ियों की हक़ीक़त आज के दौर में सबके सामने खुलकर आ चुकी है। इसके बावजूद किसी एक मामले में अगर अदालत द्वारा सरकारों के "अतिक्रमण-विरोधी" अभियान पर रोक लगायी जाती है तो वाम-उदार दायरा इस क़दर ख़ुशी मनाता है जैसे कि फ़ासीवाद पर ही विजय प्राप्त कर ली हो!

दरअसल यह छद्म आशावाद इस तबक़े के निराशावाद और पराजयबोध से ही पैदा हुआ है। जनसमुदायों की ताक़त में इन्हें भरोसा रह नहीं गया है इसलिए यह हमेशा "ऊपर से" ही किसी करिश्माई हस्तक्षेप की आस लगाये बैठे रहते हैं। इस दायरे में ही कुछ ऐसे भी तथाकथित बुद्धिजीवी हैं जिन्हें भारत की जनता पैदाइशी प्राक-आधुनिक प्रतीत होती है और इसलिए इनके अनुसार उसका फ़ासीवादीकरण होना लाज़िमी है! ऐसे महानुभावों के लिए तो यही कहा जा सकता है कि उन्हें अपने लिए एक शुद्ध-बुद्ध नयी जनता खोज लेनी चाहिए जो निर्मल-अकलुष हो!

आज वास्तविकता यह है कि फ़ासीवादी दमन तंत्र का मुक़ाबला भी क्रान्तिकारी जुझारू मज़दूर आन्दोलन ही कर सकता है। ज़ाहिरा तौर पर यह बात कहनी आसान है लेकिन और कोई 'शॉर्टकट' वर्तमान दौर में पसरे पराजयबोध से भी ज़्यादा गहरी निराशा में लेकर जायेगा। आज मज़दूर आन्दोलन में क्रान्तिकारी ताक़तों को संशोधनवादी, सामाजिक-जनवादी, अर्थवादी, ट्रेडयूनियनवादी, अराजकतावादी-संघधिपत्यवादी आदि बुर्जुआ लाइनों से संघर्ष चलाकर सही सर्वहारा लाइन स्थापित करनी होगी। फ़ासीवाद का कोई भी कारगर प्रतिरोध इस कार्यभार की अनदेखी नहीं कर सकता है। इसके अलावा, आज फ़ासीवाद के विरुद्ध मोर्चा खोलने की कोई उम्मीद बुर्जुआ चुनावी दलों से रखना बुर्जुआ उदारतावाद से ग्रस्त होना होगा। पराजयबोध की स्थिति आज यह है कि कई लोगों को उद्धव ठाकरे "क्रान्तिकारी" प्रतीत हो रहा है! कोई ताज्जुब नहीं कि कल योगी आदित्यनाथ के बरक्स इन्हें नरेन्द्र मोदी "प्रगतिशील" और "उदार" नज़र आये!

रही बात न्यायपालिका की तो जैसा कि हमने ऊपर भी इंगित किया है इसका चरित्र तो पहले ही खुलकर सामने आ चुका है। जहांगीरपुरी मामले में तो सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बावजूद बुलडोज़र चलते रहे और अदालत की अवमानना का कोई मुक़दमा तक दर्ज नहीं हुआ। इसके अलावा, जनवादी-नागरिक अधिकार आन्दोलन और आम तौर पर नागरिक समाज की भी हालत इतनी ख़स्ताहाल है कि उनसे किसी अर्थपूर्ण प्रतिरोध की उम्मीद भी आज नहीं रखी जा सकती है। 1960-1970 के दशक में कम से कम यह तबक़ा प्रतिरोध करने के लिए सड़कों पर उतरने की कूव्वत रखता था लेकिन अब इनके चरित्र का क्षरण इस हद तक हो चुका है कि मोमबत्तियों की संख्या में गिरावट जनवादी-नागरिक आदोलन में आयी गिरावट के समानुपातिक है! आज यह कार्यभार भी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट ताक़तों और क्रान्तिकारी मज़दूर आन्दोलन को अपने हाथ में लेना होगा। एक सशक्त जनवादी-नागरिक अधिकार आन्दोलन खड़ा करने की पूर्वशर्त भी यही है। अन्त में, हमें यह बात समझनी होगी कि न तो फ़ासीवाद ही अजेय है और न मौजूदा दौर में क़ायम "बुलडोज़र राज" ही अजेय है। इस दैत्याकार बुलडोज़र को चलाने वाला जो इन्सान है वह सोच सकता है! जर्मनी के सर्वहारावर्गीय कवि बेर्टोल्ट ब्रेष्ट की एक कविता की पंक्तियाँ याद आ रही हैं जो आज के दौर में भी उतनी ही प्रासंगिक हैं :

जनरल, तुम्हारा टैंक
एक शक्तिशाली वाहन है
वह जंगलों को रौंद देता है
और सैकड़ों लोगों को चपेट में
ले लेता है
लेकिन उसमें एक दोष है
उसे एक चालक चाहिए

जनरल, तुम्हारा बमवर्षक जहाज़
शक्तिशाली है
तूफ़ान से तेज़ उड़ता है वह और
हाथी से ज़्यादा भारी वज़न उठाता है
लेकिन उसमें एक दोष है
उसे एक कारीगर चाहिए

जनरल, आदमी बहुत
उपयोगी होता है
वह उड़ सकता है और
उड़कर मार भी सकता है
लेकिन उसमें एक दोष है
वह सोच सकता है!

टेक्सास एलिमेण्ट्री स्कूल 'मास शूटिंग' के बहाने कुछ बुनियादी सवाल

अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर सामूहिक हत्याएँ : अमेरिकी समाज की गम्भीर मनोरुग्णता का एक लक्षण

– कात्यायनी

विगत 24 मई को सल्वाडोर रामोस नामक एक अठारह वर्षीय युवा अमेरिका के टेक्सास राज्य के युवाल्डे स्थित बच्चों के एक स्कूल में घुसकर अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाने लगा। नतीजतन उन्नीस बच्चे और दो शिक्षक मारे गये तथा अठारह अन्य घायल हुए। दिल दहला देने वाली इस घटना के एक घण्टे बाद तक रामोस वहीं मौजूद रहा, जब तक कि पुलिस की एक टुकड़ी ने वहाँ पहुँचकर उसे गोली नहीं मार दी। स्कूल में घुसने से पहले रामोस घर पर अपनी दादी को सिर में गोली मारकर गम्भीर रूप से घायल कर आया था।

ज़ाहिर है कि इस अकारण ख़ून-ख़राबे के लिए रामोस की असामान्य मानसिक स्थिति ही ज़िम्मेदार थी, लेकिन ग़ौरतलब बात यह है कि अमेरिका में 'मास शूटिंग' की ऐसी घटनाएँ अक्सर होती रहती हैं और गत कुछ दशकों से राजनीतिक एवं बौद्धिक दायरों में तथा समाजशास्त्रियों और मनश्चिकित्सकों के बीच गम्भीर चर्चा और वाद-विवाद का विषय बनी रही हैं। पहले यह स्पष्ट कर दें कि पारिभाषिक तौर पर 'मास शूटिंग' की श्रेणी में ऐसी घटनाएँ आती हैं जिनमें कोई व्यक्ति अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर चार या उससे अधिक लोगों की जान ले ले। 'गैंगवार', घरेलू हिंसा और आतंकवादी कार्रवाइयाँ इस श्रेणी में नहीं आतीं। 'मास शूटिंग' आज अमेरिकी समाज की एक गम्भीर समस्या बन चुकी है। ग़ौरतलब है कि अधिकांशत: ऐसी घटनाएँ विकसित पूँजीवादी देशों में ही घटती हैं और पूरी दुनिया में होने वाली 'मास शूटिंग्स' की घटनाओं में से 73 प्रतिशत अकेले अमेरिका में होती हैं।

'रिपब्लिक वर्ल्ड डॉट कॉम' के अनुसार सिर्फ़ 2022 में 28 जून तक अमेरिका में 'मास शूटिंग' की 292 घटनाएँ घट चुकी हैं। तस्वीर की भयावहता के अहसास के लिए कुछ और आँकड़े ध्यान देने लायक़ हैं। 1966 से 2012 के बीच पूरी दुनिया में 'मास शूटिंग' की जितनी घटनाएँ घटीं, उनमें से एक तिहाई अकेले अमेरिका में घटीं। 'गन वॉयलेंस आर्काइव्स' के अनुसार 2019 के अन्त तक 417, 2020 के अन्त तक 611 और 2021 के अन्त तक 699 'मास शूटिंग' की घटनाएँ अमेरिका में घटीं। 2021 के मध्य मई तक अमेरिका में प्रति सप्ताह औसतन दस 'मास शूटिंग्स' हुईं। 2022 के मध्य मई तक प्रति सप्ताह औसतन ग्यारह ऐसी घटनाएँ हुईं। युवाल्डे स्कूल 'मास शूटिंग' के पहले 2022 में अमेरिका में 'स्कूल शूटिंग' की 26 घटनाएँ घट चुकी थीं और 'एबीसी न्यूज़' के पियेर थॉमस के अनुसार, उस घटना के बाद 33 ऐसी और घटनाएँ घट चुकी हैं। 'एजुकेशन वीक' पत्रिका के अनुसार 2018 से लेकर अभी तक अमेरिका में सिर्फ़ 'स्कूल शूटिंग' की ही 119 घटनाएँ घट चुकी हैं।

युवाल्डे स्कूल की घटना 2012 में सैण्डी हुक एलिमेण्ट्री स्कूल, कलेक्टिकट की उस 'स्कूल मास शूटिंग' की घटना के बाद दूसरी सबसे भीषण घटना थी जिसमें 20 बच्चे और 6 वयस्क मारे गये थे। युवाल्डे की घटना बफ़ैलो सुपर मार्केट, न्यूयार्क की घटना के ठीक दस दिन बाद घटी जिसमें एक श्वेतवर्ण श्रेष्ठतावादी ने अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर दस बेगुनाह काले लोगों को मौत के घाट उतार दिया था।

अमेरिका में इस ज्वलन्त मसले पर जारी बहस में डेमोक्रेटिक पार्टी और उसके बाहर के बहुतेरे उदारवादी-सुधारवादी बुर्जुआ बुद्धिजीवियों का कहना है कि रिपब्लिकन्स (विशेषकर ट्रम्प के समर्थकों) और अन्य धुर दक्षिणपन्थी राजनीतिक शक्तियों के प्रभाव में काले, एशियाई और लातिनी मूल के नागरिकों तथा आप्रवासियों (विशेषकर मज़दूरों), स्त्रियों और समलैंगिकों के विरुद्ध घृणा और हिंसा का जो व्यापक माहौल बनाया जा रहा है और इनकी आज़ादी और अधिकारसम्पन्नता को जिस तरह अमेरिकी हित, संस्कृति और भविष्य के लिए ख़तरे के रूप में प्रचारित किया जा रहा है, उससे पिछड़ी चेतना की श्वेत आबादी में निराशा और ग़ुस्सा बढ़ रहा है। इस मानसिकता के चलते ऐसी घटनाएँ घट रही हैं। कुछ समाजशास्त्री यह भी मानते हैं कि वियतनाम से लेकर अफ़ग़ानिस्तान और सीरिया तक अमेरिका के मानमर्दन ने अमेरिकी समाज में बहुप्रचारित अमेरिकी "श्रेष्ठता" के मिथक को चूर-चूर कर दिया है। उधर पचास से भी अधिक वर्षों से जारी दीर्घकालिक मन्दी ने आम अमेरिकी के सामने इस बात को साफ़ कर दिया है कि केनेडीकालीन वैभव के स्वर्णिम दिन अब कभी भी वापस नहीं लौटने वाले। संकट की आँच अब खाता-पीता अमेरिकी मध्यम मध्य वर्ग तक अपने दैनन्दिन जीवन पर महसूस करने लगा है। नतीजतन पूरा अमेरिकी समाज ही आज गहन अवसाद, निरर्थकता बोध, पराजयबोध और अपराधबोध का शिकार है।

अमेरिकी बुर्जुआ समाज की इन्हीं सामूहिक मनोरुग्णताओं का विस्फोट विविध रूपों में होता रहता है, जिनमें से एक 'मास शूटिंग' की परिघटना है। अमेरिका के मनश्चिकित्सकों का एक हिस्सा तो यहाँ तक कहता है कि 'मास शूटिंग्स', आत्महत्या, पारिवारिक हिंसा और अवसाद के बढ़ते मामलों को 'मानसिक स्वास्थ्य महाआपदा' के रूप में देखा जाना चाहिए। लेकिन इस स्थिति की सामाजिक जड़ों को देखने की जगह वे मानसिक चिकित्सा के व्यापक सरकारी तंत्र के निर्माण की बात करते हैं। या फिर ऐसा वे शायद इसलिए करते हैं कि मूल व्याधि के सामाजिक ढाँचागत कारणों को दूर करने का रास्ता वे बता ही नहीं सकते। और यह शायद उनके वर्गहित में भी नहीं होगा।

यह कहना अंशत: सही है कि धुर-दक्षिणपन्थी शक्तियों और रिपब्लिक पार्टी की मज़दूर-विरोधी, स्त्री-विरोधी, नस्लवादी और तमाम क़िस्म की रूढ़िवादी नीतियों का किसी हद तक, निरर्थक हिंसा के माहौल और मानसिकता के निर्माण में एक हाथ है। लेकिन यह भी सच है कि डेमोक्रेटिक पार्टी का उदारवाद-सुधारवाद इतना पंगु और निष्प्रभावी है कि सामाजिक घुटन और निरुपायता के विविधरूपा सामाजिक हिंसात्मक विस्फोटों को रोकने के लिए 'सेफ़्टीवाल्व' की सीमित भूमिका भी नहीं निभा सकता। न केवल साम्राज्यवादी वर्चस्व और नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के मामले में, बल्कि अधिकांश घरेलू नीतियों के मामले में भी डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन पार्टी में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है। स्त्रियों की स्वतंत्रता, काले लोगों और आप्रवासियों के अधिकारों जैसे मामलों में डेमोक्रेटिक पार्टी कुछ प्रगतिशील स्टैण्ड लेती दीखती है, लेकिन वह भी रस्मी और ज़ुबानी जमाख़र्च अधिक होता है। जो समाजशास्त्री अमेरिकी समाज के चौतरफ़ा संकट और पराभव से 'मास शूटिंग्स', आत्महत्याओं, घरेलू हिंसा की बढ़ती घटनाओं को जोड़कर देखते हैं, वे किसी हद तक सच्चाई के निकट खड़े हैं। लेकिन इस पूरी स्थिति को व्यापक सामाजिक-ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना समझा नहीं जा सकता।

●

अमेरिकी बुर्जुआ समाज, बीमार, सचमुच बेहद बीमार है। बुर्जुआ सभ्यता और भौतिक प्रगति का यह बहुप्रचारित, लकदक चमक-दमक वाला मॉडल अन्दर से सड़ चुका है। अमेरिकी बुर्जुआ सभ्यता मानवीय सारतत्व से रिक्त और खोखली हो चुकी है। अमेरिकी बुर्जुआ समाज समृद्धि के शिखर पर बैठा हुआ भविष्यहीनता के अवसाद और आतंक में डूबा हुआ है। अमेरिकी "श्रेष्ठता" की खोखली उल्लास व उन्माद-भरी चीख़ों के पीछे दुनियाभर के युद्धों, रक्तपातों, नरसंहारों का अपराधबोध सामूहिक मानस में पार्श्व-संगीत की तरह लगातार बज रहा है।

आज के वैभवशाली अमेरिका की बुनियाद कभी यूरोप की तिरस्कृत-लांछित, हाशिए पर धकेल दी गयी मेहनतकश आबादी ने डाली थी। यही वह मेहनतकश आबादी थी जो 1775-84 की अमेरिकी बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति में नवोदित बुर्जुआ वर्ग की सहयोगी मुख्य शक्ति थी। आगे चलकर अब्राहम लिंकन ने जब दास-प्रथा का उन्मूलन करके बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के आख़िरी छूटे हुए महत्वपूर्ण कार्यभार को पूरा किया तो यह मेहनतकश आबादी मज़बूती से उनके साथ खड़ी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से जब यूरोप में सर्वहारा वर्ग के संघर्षों की उत्ताल तरंगे उठ रही थीं तो अमेरिकी मज़दूर वर्ग भी उसके क़दम से क़दम मिलाकर चल रहा था। शिकागो के मज़दूरों का संघर्ष उसकी संघर्ष यात्रा का एक मील का पत्थर था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग जनवादी क्रान्ति के आदर्शों को तिलांजलि देकर मज़दूर वर्ग और समूची मेहनतकश आबादी के खुले शत्रु के रूप में सामने आ चुका था। जनवादी क्रान्ति के बुनियादी कार्यभारों के पूर्ण होने और अमेरिकी पूँजीवाद के इजारेदारी की मंज़िल में प्रवेश के साथ मेहनतकश जनता का बुर्जुआ वर्ग से कुछ भी साझा नहीं रह गया था। सदी के अन्तिम दशकों तक अमेरिका एक साम्राज्यवादी देश बन चुका था और दुनिया के बाज़ार और कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़े के लिए यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियों से प्रतिस्पर्द्धा करने लगा था। दूसरे विश्वयुद्ध के पहले ही यह स्पष्ट हो चुका था कि साम्राज्यवादी दुनिया का अगला चौधरी अब अमेरिका ही होगा और विश्वयुद्ध के बाद ऐसा ही हुआ।

साम्राज्यवाद की अवस्था में प्रवेश के बाद अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग ने भी यूरोपीय साम्राज्यवादियों की ही तरह दुनियाभर से निचोड़े गये अधिशेष से अपने देश के मज़दूरों के एक हिस्से को सुविधाओं की घूस देकर भ्रष्ट बनाया। इन कुलीन मज़दूरों में ज़्यादातर श्वेत मज़दूर थे जो आम अश्वेत और आप्रवासी मज़दूरों से घृणा करते थे और साथ ही ग़रीब श्वेत मेहनतकश आबादी से भी नफ़रत करते थे। क्रान्तियों के तूफ़ानों का केन्द्र अब पश्चिम से पूरब की ओर खिसक चुका था। अमेरिकी समाज की ऊर्जस्विता और सर्जनात्मकता अब मुख्यत: निश्शेष हो चुकी थी। जिस देश ने कभी साहित्य के क्षेत्र में वाल्ट व्हिटमैन से लेकर मार्क ट्वेन, अप्टन सिंक्लेयर, जैक लण्डन जैसे महान सर्जक दिये थे, वह बीसवीं शताब्दी का मध्य आते-आते बीमार व्यक्तिवाद, निरर्थकताबोध और ऐन्द्रिक-मानसिक रुग्णताओं के साहित्यिक आन्दोलनों का केन्द्र बन गया। बीसवीं शताब्दी में हेमिंग्वे और विलियम फ़ॉकनर जैसों के यथार्थवादी साहित्य में मानवतावादी और जनवादी मूल्यों की जो कौंधें थीं, वे भी धीरे-धीरे विलुप्त होती चली गयीं। कला के अन्य क्षेत्रों में भी कमोबेश यही स्थिति थी।

कला-साहित्य की यह स्थिति दरअसल पूरे अमेरिकी बुर्जुआ समाज की बढ़ती आत्मिक रिक्तता को ही प्रतिबिम्बित करती है। बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बाद सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्षों से अमेरिकी सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन को ऊर्जस्विता, सर्जनात्मकता और भविष्य-स्वप्नों की जो संजीवनी शक्ति मिल रही थी, वह सोता ही क्रमश: सूखता चला गया। अमेरिकी समाज में मेहनतकश जनता के संघर्ष जैसे हाशिए के इलाक़ों में क्षीण धाराओं के रूप में मौजूद रह गये हैं, उसी तरह सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में भी स्वस्थ मानवीय मूल्यों और भविष्यस्वप्नों के बीज यहाँ-वहाँ बिखर-से गये हैं और मुश्किल से ही दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसा समाज केवल एक बीमार, अवसादग्रस्त, आत्महन्ता और घोर मानवद्रोही समाज ही हो सकता है। इतिहास की स्वाभाविक गति से, वर्ग संघर्षों की उत्ताल तरंग जब वेगवाही तूफ़ान बनकर पूरब से पश्चिम की ओर पहुँचने लगेंगी, तब फिर निश्चय ही अमेरिकी समाज भी ऊर्जस्वी और व्याधिमुक्त होकर सर्जनात्मकता की राह पर आगे डग

(पेज 16 पर जारी)

क्रान्तिकारी मज़दूर शिक्षण माला-2

कुछ बुनियादी बातें जिन्हें समझना ज़रूरी है – 1

– अभिनव

इस बार हम सीधे राजनीतिक अर्थशास्त्र की चर्चा शुरू करने की बजाय कुछ एकदम बुनियादी अवधारणाओं से शुरुआत करेंगे। यह सम्भव है कि इस अंक में प्रकाशित इस लेख के कई नुक़्तों को अभी कई साथी पूरी तरह न समझ पायें, बल्कि केवल आंशिक तौर पर ही समझ पायें। *लेकिन इससे कोई नुक़सान नहीं है।* जैसे-जैसे हम पूँजीवादी समाज के आर्थिक सम्बन्धों, मज़दूर वर्ग के शोषण की सच्चाई, पूँजीवादी संकटों के मूलभूत कारण और पूँजीवादी समाज के बुनियादी और प्रधान अन्तरविरोध को समझते जायेंगे वैसे-वैसे मौजूदा लेख में व्याख्यायित बुनियादी अवधारणाओं की समझ भी और विकसित होती जायेगी। यह लेख आगे भी आपके लिए एक सन्दर्भ स्रोत का काम करेगा। यह तमाम चीज़ों को गहराई से समझने और उसके बारे में वैज्ञानिक समझ बनाने में आपकी भविष्य में भी मदद करेगा। इसलिए मौजूदा लेख के कुछ तत्वों को समझ पाने में अगर कठिनाई होती है, तो चिन्ता की कोई बात नहीं है।

मौजूदा लेख और उसके अगले अंक में प्रकाशित होने वाले उसके अगले हिस्से में हम जिन चीज़ों की चर्चा कर रहे हैं, उन्हें हम **ऐतिहासिक भौतिकवाद, यानी इतिहास की वैज्ञानिक भौतिकवादी समझदारी** के कुछ तत्वों पर चर्चा मान सकते हैं। इन्हें समझने के बाद पूँजीवादी समाज का समूचा आर्थिक विश्लेषण आपके लिए कहीं ज़्यादा आसान होगा और उसकी जटिल अवधारणाओं को भी आप अधिक सुगमता से समझ पायेंगे। इसलिए **शुरुआत में हम आपको कुछ असुविधा दे रहे हैं, लेकिन हमें यक़ीन है कि यह असुविधा आपके लिए काफ़ी उपयोगी असुविधा सिद्ध होगी।**

उत्पादन, उत्पादक शक्तियाँ, उत्पादन सम्बन्ध और समाज का आर्थिक आधार

किसी भी समाज की बुनियाद में मनुष्य के जीवन का भौतिक उत्पादन और पुनरुत्पादन होता है। यदि मनुष्य जीवित होगा तो ही वह राजनीति, विचारधारा, शिक्षा, कला, साहित्य, संस्कृति, वैज्ञानिक प्रयोग, खेल-कूद और मनोरंजन जैसी गतिविधियों में संलग्न हो सकता है। मनुष्य अपने जीवन के भौतिक उत्पादन और पुनरुत्पादन के प्रकृति के साथ एक निश्चित सम्बन्ध बनाता है और उसका रूपान्तरण कर उसके संसाधनों को अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ढालता है। इस गतिविधि को ही हम उत्पादन कहते हैं। मनुष्य के भौतिक जीवन के पुनरुत्पादन के लिए उपयोगी वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन करने के लिए मनुष्य प्रकृति को रूपान्तरित करता है। यह मनुष्य का उत्पादन के लिए, यानी अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप, प्रकृति के रूपान्तरण का संघर्ष है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य के लिए क्या उपयोगी है और क्या नहीं, यह कोई पहले से या जन्मजात तय बात नहीं होती बल्कि समाज के विकास के साथ ऐतिहासिक तौर पर बदलने वाली चीज़ है। मसलन, पुरापाषाण युग के मनुष्य के लिए भाप इंजन उपयोगी नहीं था लेकिन 19वीं सदी के मनुष्य के लिए था और आज भी है। उसी प्रकार, आज के मनुष्य के लिए पत्थर के औज़ार उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि उसकी उत्पादकता का विकास पत्थर के औज़ारों से मीलों आगे जा चुका है। किसी आदिम मनुष्य के हाथ में यदि मोबाइल फ़ोन या कम्प्यूटर दे दिया जाये तो भला उसके लिए उसकी क्या उपयोगिता हो सकती है? **कहने का अर्थ यह कि मनुष्य के लिए कौन-सी वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उपयोगी हैं, या दूसरे शब्दों में, उपयोग-मूल्य हैं, यह ऐतिहासिक व सामाजिक रूप से निर्धारित होने वाली चीज़ है।** ज़ाहिर है, मनुष्य के लिए जीने के लिए केवल खाना, कपड़ा और मकान ही आवश्यक नहीं है। जैसे-जैसे मनुष्य के श्रम की उत्पादकता का विकास हुआ, वैसे-वैसे उसकी बुनियादी आवश्यकताओं की परिभाषा भी बदलती गयी। 'बाइबल' में ही लिख दिया गया था : "केवल रोटी के बूते मनुष्य नहीं जियेगा।"

मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रकृति को रूपान्तरित करने के लिए जो संघर्ष करता है, उसी के साथ उसका प्रकृति के बारे में ज्ञान भी विकसित होता है। यानी, उसकी चेतना उन्नत होती है, उसके उपकरण उन्नत होते हैं और उसकी कुशलता विकसित होती है। इसके साथ ही प्रकृति को अपनी आवश्यकता के अनुसार रूपान्तरित करने की उसकी क्षमता भी विकसित होती जाती है। **मनुष्य अपने लिए उपयोगी वस्तुओं के उत्पादन हेतु प्रकृति के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की जो क्षमता विकसित करता है, उसकी माप को ही हम उत्पादक शक्ति कहते हैं।**

लेकिन मनुष्य उत्पादन हेतु कभी भी प्रकृति का रूपान्तरण अकेले नहीं करता है। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादन अपने चरित्र से ही एक सामाजिक गतिविधि होता है। जब तक उत्पादक शक्तियों का विकास बहुत नीचे था तब तक समाज में कोई श्रम विभाजन नहीं पैदा हो सकता था और न ही कोई सामाजिक विभेदीकरण, यानी अमीर-ग़रीब का फ़र्क़, मालिक और उत्पादक का फ़र्क़, आदि पैदा हो सकता था। उत्पादक शक्तियों के एक स्तर तक विकास के साथ समाज में श्रम का विभाजन होने लगता है। यानी, अलग-अलग उत्पादक अलग-अलग वस्तुओं का उत्पादन करते हैं और फिर आपस में विनिमय के ज़रिए अपने लिए आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। बिल्कुल सम्भव है कि समाज में लाखों अलग-अलग उत्पादक अलग-अलग वस्तुओं का उत्पादन कर रहे हों। लेकिन सामाजिक तौर पर देखें तो यह समूचा उत्पादन किसी एक उत्पादक की गतिविधि नहीं है, बल्कि लाखों-करोड़ों उत्पादकों की गतिविधि है, भले ही वे उसे व्यक्तिगत तौर पर चला रहे हों। आज के दौर में तो उत्पादन सीधे-सीधे सामाजिक चरित्र ग्रहण कर चुका है। कोई एक पिन भी आज एक मज़दूर अकेले नहीं बना रहा है। हर वस्तु और सेवा का बड़े पैमाने पर हज़ारों मज़दूरों द्वारा उत्पादन हो रहा है, चाहे यह उत्पादन कई अलग-अलग हिस्सों में भौगोलिक तौर पर विभाजित ही क्यों न हो। आज उत्पादन के इस सामाजिक चरित्र को देखने के लिए किसी गहरे विश्लेषण की आवश्यकता नहीं रह गयी है। लेकिन जब ऐसा सीधे और स्पष्ट तौर पर नज़र नहीं आता था, तो भी उत्पादन वास्तव में एक सामाजिक गतिविधि ही था।

अब चूँकि उत्पादन अपनी प्रकृति से ही एक सामाजिक गतिविधि है, इसलिए उत्पादन करते हुए मनुष्य आपस में एक निश्चित सम्बन्ध बनाते हैं। जिस समय उत्पादक शक्तियों का विकास बेहद निम्न स्तर पर था, समाज आदिम अवस्था में था, जिसमें लोग शिकार करके, कन्द-मूल इकट्ठा करके और थोड़ी-बहुत खेती करके मुश्किल से इतना पैदा कर पाते थे कि क़बीले के सभी लोगों की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हो सकें, तब तक समाज में समानतामूलक रिश्ते थे, कोई ऊँच-नीच या अमीरी-ग़रीबी नहीं थी। हो भी नहीं सकती थी। क्योंकि अमीर और शोषक लोग तभी पैदा हो सकते हैं, जबकि समाज में अतिरिक्त उत्पादन हो रहा है। इस पर हम आगे विस्तार से बात करेंगे। अभी इतना समझने की आवश्यकता है कि उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुसार ही समाज में मनुष्यों के बीच उत्पादन की प्रक्रिया में निश्चित सम्बन्ध बनते हैं। इन्हें हम उत्पादन सम्बन्ध कहते हैं।

उत्पादन सम्बन्ध पलटकर उत्पादक शक्तियों के विकास को प्रभावित भी करते हैं। यदि उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के अनुकूल होते हैं, तो वे उत्पादक शक्तियों के विकास को गति प्रदान करते हैं। जब उत्पादक शक्तियों का विकास आगे बढ़ जाता है और उत्पादन सम्बन्ध पुराने पड़ जाते हैं, तो यही उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास में बाधा पैदा करने लगते हैं। आगे हम ऐतिहासिक विवरण से इन बातों को समझेंगे। अभी इतना समझ लेना पर्याप्त है कि उत्पादन हेतु प्रकृति के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की मनुष्य की क्षमता की माप को ही उत्पादक शक्ति कहा जाता है और उत्पादन की इस प्रक्रिया में मनुष्य आपस में जो निश्चित सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उन्हें उत्पादन सम्बन्ध कहा जाता है। उत्पादक शक्तियों के विकास के स्तर के अनुसार बने उत्पादन सम्बन्धों के कुल योग को ही हम **आर्थिक आधार** या **मूलाधार** कहते हैं।

उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्ध के बीच सतत् द्वन्द्व यानी अन्तरविरोध जारी रहता है और यही समाज को गति देने का *बुनियादी कारक* या *बुनियादी अन्तरविरोध* है। दूसरे शब्दों में, यह अन्तरविरोध समाज के आर्थिक आधार में शुरू से अन्त तक मौजूद रहता है। इनके बीच के अन्तरविरोध और उसके समाधान और फिर एक नये स्तर पर फिर से उनके अन्तरविरोध के विकास की प्रक्रिया में ही समाज का विकास होता है। आर्थिक आधार या मूलाधार वह क्षेत्र है जिसमें यह अन्तरविरोध लगातार जारी रहता है और उसमें गति के लिए उत्तरदायी होता है। लेकिन उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध ही अपने आप में आर्थिक आधार को गुणात्मक रूप से नहीं बदल सकता है। यह केवल राजनीतिक वर्ग संघर्ष के ज़रिए ही सम्भव होता है, जो कि अधिरचना के क्षेत्र में जारी रहता है।

अधिरचना क्या होती है?

अधिरचना और आर्थिक आधार

समाज का आर्थिक आधार यानी उसके आर्थिक सम्बन्धों का समूचा ढाँचा जिस प्रकार का होता है, उसी के अनुसार उसके ऊपर एक समूचा राजनीतिक और विचारधारात्मक ढाँचा खड़ा होता है।

यदि हम दास समाज के आर्थिक आधार की बात करें, तो उस समाज में दास व्यवस्था के आर्थिक सम्बन्धों के आधार पर एक विशेष प्रकार की राजनीति और विचारधारा की एक समूची अट्टालिका या ढाँचा खड़ा होता है जो अन्ततः उस विशिष्ट आर्थिक आधार की सेवा करता है। दास व्यवस्था के युग में हम आज के पूँजीवादी लोकतंत्र पर आधारित राजनीति और व्यक्तिवाद, अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की सोच, और पूँजीवादी लोभ-लालच की संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकते हैं। पूँजीवादी लोकतंत्र और पूँजीवादी विचारधाराएँ अन्ततः पूँजीवादी आर्थिक आधार की ही सेवा कर सकती हैं और वे पूँजीवादी आर्थिक आधार की बुनियाद पर ही खड़ी हो सकती हैं। उसी प्रकार सामन्ती युग में भूदास प्रथा और सामन्ती लगान के ज़रिए प्रत्यक्ष उत्पादकों के अतिरिक्त श्रम को लूटने का काम सामन्ती ज़मीन्दार और राजतंत्र करते हैं। उस युग में भी हम पूँजीवादी जनवाद और निजी मुनाफ़े पर आधारित सोच और संस्कृति की कल्पना नहीं कर सकते हैं। पूँजीवादी समाज में मज़दूर औपचारिक तौर पर दोहरे अर्थों में "मुक्त" होता है। पहला, वह उत्पादन के साधनों से पूरी तरह "आज़ाद" हो जाता है, यानी उसे उत्पादन के साधनों से पूर्णतः वंचित कर दिया जाता है, जिसके कारण वह अपनी मेहनत करने की क्षमता यानी श्रमशक्ति को उत्पादन के साधन के स्वामी यानी पूँजीपति को बेचने के लिए बाध्य होता है। दूसरा, वह अपना मालिक स्वयं चुन सकता है क्योंकि वह अपनी श्रमशक्ति एक

(पेज 11 पर जारी)

कुछ बुनियादी बातें जिन्हें समझना ज़रूरी है – 1

(पेज 10 से आगे)

निश्चित समय के लिए ही पूँजीपति को बेचता है। वह दास के समान अपने मालिक की सम्पत्ति नहीं होता। दास को तो रोमन समाज में दास स्वामी 'बोलने वाला औज़ार' कहा करते थे। पूँजीवादी समाज में मज़दूर इस प्रकार निरपेक्ष अर्थों में ग़ुलाम नहीं होता, बल्कि उजरती ग़ुलाम होता है। यानी वह श्रमशक्ति बेचने को बाध्य होता है और मज़दूरी के वास्ते पूँजीपति की ग़ुलामी करता है। एक दफ़ा अपनी श्रमशक्ति एक निश्चित अवधि के लिए पूँजीपति को बेचने के बाद मज़दूर का श्रमशक्ति के उपयोग पर कोई नियंत्रण नहीं होता है और पूँजीपति उसकी श्रमशक्ति का जैसे चाहे इस्तेमाल कर सकता है। ऐसी व्यवस्था में ऊपरी तौर पर लेन-देन की बराबरी यानी 'विनिमय की समानता' होती है। मज़दूर अपनी श्रमशक्ति को एक निश्चित समय के लिए पूँजीपति को बेचता है और बदले में अपनी श्रमशक्ति को फिर से पैदा करने हेतु आवश्यक सामान ख़रीदने के लिए उसे मज़दूरी मिलती है। ऊपर से देखा जाये तो कहीं कोई शोषण नज़र नहीं आता है। मज़दूर के शोषण को केवल इस ऊपरी सतही यथार्थ को भेदकर ही देखा जा सकता है क्योंकि मज़दूर अपने एक दिन के काम के दौरान अपनी श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन योग्य मूल्य तो कार्यदिवस के एक हिस्से में ही पैदा कर लेता है और उसके बाद वह पूँजीपति के लिए मुफ़्त में मुनाफ़ा पैदा करता है, जिसके बदले में उसे कुछ भी नहीं मिलता। जैसे ही हम यह समझ जाते हैं कि श्रमशक्ति एक ऐसा माल है जो अपने ख़र्च होने की प्रक्रिया में अपने मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करता है, वैसे ही हमें पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े का रहस्य समझ में आ जाता है और विनिमय की समानता की सच्चाई भी सामने आ जाती है। तमाम पूँजीवादी व ग़ैर-पूँजीवादी (साधारण) माल उत्पादक भी बाज़ार में अपने मालों का विनिमय की समानता के सिद्धान्त के आधार पर विनिमय करते हैं और एक दूसरे की निजी सम्पत्ति के अधिकार को प्राकृतिक अधिकार मानते हैं। बाज़ार में यानी संचरण के क्षेत्र में होने वाला यह समान विनिमय और निजी सम्पत्ति का 'प्राकृतिक अधिकार' *पूँजीवादी जनवाद* का आधार होता है, जबकि उत्पादन के क्षेत्र में श्रमशक्ति को ख़रीदने के बाद मज़दूरों की पूँजीपति के समक्ष पूर्ण अधीनता *पूँजीवादी तानाशाही* का आधार होती है।

लुब्बेलुआब यह कि समाज का आर्थिक आधार जिस प्रकार का होता है, यानी उसमें जिस प्रकार के उत्पादन सम्बन्ध होते हैं, उसी के आधार पर समाज में एक राजनीतिक और विचारधारात्मक अधिरचना का निर्माण होता है। उसी के अनुसार, राजनीतिक सत्ता की समूची संरचना यानी क़ानून, संविधान, पुलिस, संसद, विधानसभाएँ आदि स्थापित होती हैं, उसी प्रकार की शिक्षा व्यवस्था, सांस्कृतिक तंत्र और तमाम विचारधाराओं का ढाँचा खड़ा होता है। यह अधिरचना *अन्ततः* आर्थिक आधार की ही सेवा करती है, लेकिन हर क्षण नहीं, बल्कि अन्ततः वह आर्थिक आधार की सेवा करती है। यानी स्वयं आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच भी अन्तरविरोध होता है।

मज़दूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच संघर्ष की शुरुआत मज़दूरों की आर्थिक और भौतिक माँगों को लेकर शुरू होता है लेकिन जैसे-जैसे यह संघर्ष विकसित होता जाता है वैसे-वैसे मज़दूर वर्ग पहले यह समझता है कि उसके शोषण के लिए मशीनें नहीं बल्कि मालिक ज़िम्मेदार है, फिर यह समझता है कि उसका शत्रु एक मालिक नहीं बल्कि मालिकों का पूरा वर्ग, यानी पूँजीपति वर्ग है, फिर यह समझता है कि पूँजीपति वर्ग अपने शोषण, उत्पीड़न और दमन को जारी रखने का काम अपने राजदण्ड यानी राज्यसत्ता के ज़रिए करता है। जैसे-जैसे मज़दूर वर्ग की यह चेतना विकसित होती है, वैसे-वैसे वह अपने राजनीतिक हितों और लक्ष्य के प्रति सचेत होता है और यह समझता जाता है कि वास्तविक सवाल राज्यसत्ता का है और जब तक पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता क़ायम रहेगी, तब तक वह चाहे कितने ही जुझारू आर्थिक संघर्ष लड़ ले, उसका शोषण समाप्त नहीं होगा। इस राजनीतिक चेतना के विकसित होने के साथ मज़दूर वर्ग अपने आपको एक **राजनीतिक वर्ग**, यानी सर्वहारा वर्ग के रूप में, अपने ही संघर्षों के ज़रिए, संघटित करता (बनाता) है और संगठित करता है। यानी, एक ऐसे वर्ग के रूप में जिसका लक्ष्य पूँजीवादी राज्यसत्ता का ध्वंस कर अपनी राज्यसत्ता को स्थापित करना है। इस राजनीतिक चेतना का सर्वोच्च रूप ही पार्टी की आवश्यकता को समझना है, यानी *पार्टी राजनीतिक चेतना* का विकास है। सर्वहारा वर्ग के उन्नत तत्वों द्वारा सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी के निर्माण के ज़रिए ही पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता का ध्वंस करने हेतु सर्वहारा वर्ग अपने आपको एक राजनीतिक वर्ग के रूप में संगठित करने की उच्चतम मंज़िल पर पहुँचता है और केवल उसी के ज़रिए वह व्यापक मेहनतकश आबादी, यानी ग़रीब व मँझोले किसानों, निम्न मध्यम वर्ग, छोटे माल उत्पादकों आदि को पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक व विचारधारात्मक प्रभाव से मुक्त कर अपने विचारधारात्मक व राजनीतिक नेतृत्व के मातहत लाता है। जब सर्वहारा वर्ग अपनी पार्टी के नेतृत्व में समूचे मेहनतकश जनसमुदायों को नेतृत्व देने की स्थिति में पहुँचता है, केवल तभी वह पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता को उखाड़ फेंकने की स्थिति में पहुँच सकता है। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता तो व्यापक जनता के बीच पूँजीपति वर्ग अपने विचारधारात्मक और राजनीतिक वर्चस्व को क़ायम रखने और इस प्रकार अपनी राज्यसत्ता को क़ायम रखने में कामयाब होता है। केवल अपनी राज्यसत्ता की स्थापना करके ही सर्वहारा वर्ग आर्थिक आधार में मौजूद उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व को हल कर सकता है, यानी समाज के विकास के पैरों में बेड़ी बन चुके निजी सम्पत्ति सम्बन्धों का उन्मूलन कर सामूहिक सम्पत्ति की स्थापना कर सकता है, उत्पादक शक्तियों के उत्तरोत्तर विकास को निर्बन्ध कर सकता है, योजनाबद्ध तरीक़े से देश के पैमाने पर उत्पादन और वितरण को, मुट्ठीभर लुटेरों के निजी मुनाफ़े और बाज़ार की अराजक शक्तियों के अनुसार नहीं, बल्कि सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार संगठित कर सकता है, शोषण का ख़ात्मा कर सकता है और एक नयी सामाजिक व्यवस्था के निर्माण की ओर आगे बढ़ सकता है। पूँजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच का यह राजनीतिक अन्तरविरोध यानी राजनीतिक वर्ग संघर्ष ही वह *प्रधान अन्तरविरोध* होता है, जो कि समाज की तात्कालिक प्रेरक शक्ति होता है और समाज के विकास को एक मंज़िल से दूसरी मंज़िल पर ले जाता है। वास्तव में, हर समाज में राजनीतिक वर्ग संघर्ष ही समाज को तात्कालिक तौर पर गति देने वाला प्राथमिक प्रेरक तत्व होता है। इसीलिए वर्ग संघर्ष को मार्क्स ने समाज की 'तात्कालिक प्रेरक शक्ति' और माओ ने 'प्रधान अन्तरविरोध' की संज्ञा दी। इसका हल ही बुनियादी अन्तरविरोध यानी आर्थिक आधार में अन्तर्निहित अन्तरविरोध और साथ ही अन्य सभी अन्तरविरोधों के हल को सम्भव बनाता है। लेनिन के शब्दों में, वर्ग संघर्ष ही कुंजीभूत कड़ी है।

संक्षेप में, आर्थिक आधार के द्वन्द्व यानी उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के द्वन्द्व का समाधान ख़ुद-ब-ख़ुद नहीं हो सकता है, बल्कि केवल राजनीतिक वर्ग संघर्ष और उसके फलस्वरूप राज्यसत्ता यानी राजनीतिक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के ज़रिए ही आर्थिक आधार का क्रान्तिकारी रूपान्तरण शुरू हो सकता है। यह आर्थिक आधार और अधिरचना के द्वन्द्व का एक उदाहरण है जो कि क्रान्ति के बाद भी विविध रूपों में जारी रहता है। क्योंकि राजनीतिक अधिरचना के क्रान्तिकारी रूपान्तरण और उसके बाद आर्थिक आधार के क्रान्तिकारी रूपान्तरण की शुरुआत के बावजूद पुरानी विचारधारात्मक अधिरचना तत्काल नष्ट नहीं हो जाती और न ही आर्थिक आधार का क्रान्तिकारी रूपान्तरण केवल निजी सम्पत्ति के क़ानूनी तौर पर ख़ात्मे से पूरा हो जाता है। एक ओर समाज के आर्थिक आधार में भी अभी माल उत्पादन जारी रहता है, यानी वस्तुओं का उत्पादन केवल समाज के लिए उपयोगी वस्तुओं के तौर पर नहीं होता, बल्कि मालों के रूप में उनका विनिमय एक अलग रूप में अभी भी जारी रहता है। दूसरी ओर, पूँजीवादी समाज और उससे भी पहले के शोषणकारी समाजों के दौर से चली आ रही असमानता, शोषण, उत्पीड़न व दमन, व्यक्तिवाद, लोभ-लालच, निजी मुनाफ़े पर आधारित विचारों, मूल्यों-मान्यताओं और आदतों का प्रभाव अभी भी बना रहता है। नतीजतन, आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच के अन्तरविरोध नये और जटिल रूपों में मौजूद रहते हैं।

अधिरचना के भीतर मूल अन्तरविरोध राजनीतिक अधिरचना और विचारधारात्मक अधिरचना के बीच होता है। समाज में पूँजीवादी विचारधारा के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग अपनी विचारधारा के ज़रिए संघर्ष छेड़ता है। यदि सर्वहारा वर्ग अपने विचारधारात्मक संघर्ष को सही तरीक़े से चलाता है और पूँजीवादी विचारधारा पर अपने वर्चस्व को स्थापित करता है, तो यह उसके राजनीतिक वर्ग संघर्ष को भी बल देता है और उसे आगे बढ़ाता है। लेकिन यदि मज़दूर वर्ग स्वयं पूँजीवादी विचारधाराओं मसलन अर्थवाद, मज़दूरवाद, अराजकतावाद आदि के प्रभाव में आकर अपने ऐतिहासिक लक्ष्य और अपनी हिरावल भूमिका को भूलता है, तो यह उसके राजनीतिक वर्ग संघर्ष को पीछे धकेलने का काम करता है और उसे पूँजीपति वर्ग के विचारधारात्मक व राजनीतिक वर्चस्व के अधीन रहने के लिए अभिशप्त करता है। अधिरचना में राजनीतिक वर्ग संघर्ष और विचारधारात्मक वर्ग संघर्ष का यह अन्तरविरोध लगातार जारी रहता है और यह अधिरचना का मूल अन्तरविरोध होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों का अन्तरविरोध आर्थिक आधार का मूल अन्तरविरोध होता है।

अन्ततः समूचे मानव समाज के इतिहास की गतिकी को व्याख्यायित करने वाला अन्तरविरोध आर्थिक आधार और अधिरचना के बीच का अन्तरविरोध होता है, जो अपने अन्दर सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं और उसमें निहित अन्तरविरोधों को समेटता है।

ये कुछ बुनियादी बातें और अवधारणाएँ हैं, जिन्हें समझकर हम अपने आगे के कार्यभार को अच्छी तरह से पूरा कर सकते हैं, यानी, पूँजीवादी समाज में मज़दूर वर्ग के शोषण को समझना, पूँजीवादी समाज में उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों को समझना, उनके द्वन्द्व को समझना और इस बात को समझना कि इतिहास के किसी भी अन्य समाज के समान पूँजीवादी समाज का भी एक आदि और अन्त है, पूँजीवाद अजर-अमर नहीं है। इसका आन्तरिक द्वन्द्व ही अन्ततः एक नये उन्नत समाज की ओर ले जाता है।

अगले अंक में हम इसी लेख के दूसरे हिस्से में मनुष्य के ज्ञान के विकास की प्रक्रिया में कुछ बुनियादी बातों को समझेंगे और उसके बाद हम पूँजीवादी समाज के क्रान्तिकारी वैज्ञानिक आर्थिक विश्लेषण की ओर आगे बढ़ेंगे।

सशस्त्र बलों के बीच प्रचार की लेनिनवादी अवस्थिति क्या है?

– सनी

बीते दिनों अग्निपथ योजना की घोषणा के ख़िलाफ़ देशभर में नौजवानों का ग़ुस्सा स्वत:स्फूर्त तौर पर फूट पड़ा। सरकार के दमन के बावजूद अब भी नौजवानों में ग़ुस्सा मौजूद है और रह-रहकर नौजवान इसके ख़िलाफ़ एकजुट हो रहे हैं। यह महज़ अग्निपथ योजना के ख़िलाफ़ नहीं बल्कि मोदी सरकार के रोज़गारविहीन विकास के ख़िलाफ़ फूटा ग़ुस्सा था। परन्तु क्रान्तिकारी दायरे में कुछ ऐसी आवाज़ें भी उठीं जिनके अनुसार हमें सैनिकों की माँगों को नहीं उठाना चाहिए क्योंकि ये राज्य का अंग हैं। कुछ लोगों ने कहा कि सैनिकों की माँगों को उठाना पूँजीवाद को मज़बूत करना होगा। इन प्रश्नों पर मार्क्सवादी लेनिनवादी अवस्थिति क्या हो यह समझने के लिए हम कुछ प्रश्न-उत्तर के ज़रिए अपनी बात स्पष्ट करेंगे :

प्रश्न : क्या कम्युनिस्टों को सशस्त्र बल के सैनिकों की माँगों को उठाना चाहिए?

उत्तर : निश्चित ही हमें सैनिकों के जनवादी व आर्थिक-भौतिक अधिकारों के लिए लड़ना चाहिए। शोषण और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उनके संघर्ष के साथ हमें एकजुटता से खड़ा होना चाहिए। हमें सैनिकों के वेतन-भत्ते, जीवन स्थिति से लेकर अफ़सरों द्वारा किये जाने वाले उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उनका साथ देना चाहिए। हर पूँजीवादी देश में फ़ौजी बैरकें उत्पीड़न का अड्डा होती हैं और इसी वजह से ही "क्रान्ति का सरगर्म अड्डा" भी बनती हैं। ऐसी स्थिति ज़ारकालीन रूस में भी थी। "रूस में फ़ौजी बैरकें बहुधा किसी भी जेल से बदतर होती हैं; व्यक्तित्व और कहीं इतना कुचला हुआ, इतना उत्पीड़ित नहीं होता, जितना कि बैरकों में, और कहीं इन्सान को सताये जाने, उसे मारे-पीटे जाने और ज़लील किये जाने का इतना बोलबाला नहीं है। और ये बैरकें क्रान्ति के सरगर्म अड्डे बन रही हैं।... सैनिक-नागरिकों की माँगें सामाजिक-जनवाद की, सभी क्रान्तिकारी पार्टियों की, वर्ग-सचेत कार्यकर्ताओं की माँगें हैं। स्वतंत्रता के समर्थकों की क़तारों में शामिल होकर और लोगों का साथ देकर सैनिक स्वतंत्रता और अपनी माँगों की सन्तुष्टि सुनिश्चित करेंगे।" [लेनिन]

वास्तव में, सेना की निचली क़तारें क्रान्ति की सहयोगी होती हैं। बोल्शेविकों ने सेना के निचले संस्तरों यानि सैनिकों के बीच सक्रिय रूप से प्रचार किया और सैन्य सेवाओं में सोवियतों का गठन किया। लेनिन बताते हैं कि हमें सैनिकों के जनवादी और राजनीतिक अधिकारों को उठाना चाहिए और उनके बीच सैन्यवाद के ख़िलाफ़ भी प्रचार करना चाहिए क्योंकि जो मज़दूर बतौर कम्युनिस्ट सेना में शामिल होता है वह बुर्जुआ वर्ग के लिए बेकार होता है। लेनिन कहते हैं : "सेना में भरती जवानों के बीच प्रचार चलाना अति कठिन और कभी-कभी प्रायः असम्भव होता है। बैरकों में जीवन, सख़्त निगरानी और विरल छुट्टियाँ बाहरी दुनिया से सम्पर्क में अत्यधिक बाधक होती हैं; फ़ौजी अनुशासन और मूढ़कारी क़वायद सैनिकों को संत्रस्त कर देती है; फ़ौजी अधिकारी इस "बेज़बान मवेशी" के दिमाग़ से सभी सप्राण विचारों और मानवीय भावनाओं को निकाल फेंकने और उसमें अन्ध आज्ञाकारिता तथा "देश-विदेश" के शत्रुओं के प्रति युक्तिहीन तथा बर्बर क्रोध भरने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा रहे हैं... उस एकाकी, जाहिल और संत्रस्त सैनिक के पास पहुँचना, जो अपने सहज परिवेश से बिछुड़ा हुआ है और जिसके सिर में उसके गिर्द की हर चीज़ के बारे में वहम भर दिये गये हैं, अनिवार्य भरती की उम्रवाले उस नौजवान के पास पहुँचने से कहीं अधिक मुश्किल है, जो अपने परिवार के साथ और अपने साथियों के बीच रहता है और उनके दुख-सुख का समान भागीदार है। युवा मज़दूरों के बीच सैन्यवाद-विरोधी प्रचार से हर जगह बहुत बढ़िया नतीजे हासिल हो रहे हैं। इसका बहुत बड़ा महत्व है। जो मज़दूर चेतन सामाजिक जनवादी के रूप में फ़ौज में भरती होता है, वह सत्ताधारियों के लिए निकम्मा सहारा होता है।"

प्रश्न : क्या सशस्त्र बलों की माँगों को उठाकर हम पूँजीवाद को ही मज़बूत नहीं करते हैं?

उत्तर : सशस्त्र बलों की व उसमें भर्ती के लिए प्रयासरत नौजवानों की माँगें पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर न्यूनतम माँगें हैं। पूँजीवाद की सीमाओं को उजागर करने के लिए ही न्यूनतम माँगें उठायी जाती हैं। बुर्जुआ लोकतंत्र के ढाँचे के भीतर, न्यूनतम माँगों का चरित्र ऐसा होता है कि बुर्जुआ लोकतंत्र के दावों को उनकी पूर्णता में उठाकर ही इसे असम्भाव्यता के बिन्दु पर ले जा सकते हैं क्योंकि हम जानते हैं कि ये सभी माँगें पूरी नहीं हो सकती हैं। बुर्जुआ लोकतंत्र इन्हें पूरा नहीं कर सकता और इस प्रक्रिया में ही समाजवाद के विचार को अधिकांश मेहनतकश जनता द्वारा स्वीकार किया जाता है। ऐसा संघर्ष ही पूँजीवादी व्यवस्था और उसकी वैधिकता की सीमाओं को जनता के समक्ष उजागर करता है और समाजवादी व्यवस्था के प्रचार के लिए अनुकूल बनाता है। इसलिए, यह बुर्जुआ राज्य मशीनरी को मज़बूत नहीं करता बल्कि इन माँगों को उठाकर इसके असली चरित्र को उजागर करता है। न्यूनतम माँगों के लिए संघर्ष किये बिना दीर्घकालिक माँगों को हासिल नहीं किया जा सकता है। सशस्त्र बलों की माँगों के ज़रिए पूँजीवाद को मज़बूत करने के तर्क को कारख़ाने/कार्यक्षेत्र की स्थिति की बेहतरी की माँग से तुलना कर भी समझा जा सकता है। क्योंकि कारख़ानों में बेहतर कार्यस्थिति की माँग, काम के घण्टे कम करने की माँग, ठेकाकरण ख़त्म करने की माँग या बेहतर वेतन की माँग पूँजीवादी व्यवस्था की चौहद्दी से आगे नहीं जाती हैं। लेनिन इसी बाबत कहते हैं, "मज़दूरों द्वारा काम करने की परिस्थितियों में मामूली सुधारों की माँग को लेकर चलाये जाने वाले आन्दोलनों के प्रति तिरस्कार का रुख़ अपनाना या कम्युनिस्ट कार्यक्रम और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता के नाम पर उनके प्रति निष्क्रियता का रुख़ अपनाना कम्युनिस्टों के लिए भारी भूल होगी। मज़दूर अपनी जिन माँगों को लेकर पूँजीपतियों से लड़ने के लिए तैयार और रज़ामन्द हों, वे चाहे कितनी भी छोटी या मामूली क्यों न हों, कम्युनिस्टों को संघर्ष में शामिल न होने के लिए उन माँगों के छोटी होने का बहाना नहीं बनाना चाहिए।" यह बहाना अकसर क्रान्तिकारी लफ़्फ़ाज़ देते हैं। क्रान्तिकारी लफ़्फ़ाज़ों, "वामपन्थी" दुस्साहसवादियों और निष्क्रिय उगपरिवर्तनवादियों की राजनीति अधिकतम कार्यक्रम के साथ न्यूनतम कार्यक्रम को गड्डमड्ड कर देती है।

प्रश्न : क्या सैनिकों के लिए बेहतर रोज़गार की माँग राष्ट्रवादी भटकाव नहीं है?

उत्तर : नहीं। हम सैनिकों और सेना में जाने की तैयारी कर रहे नौजवानों के बीच कम्युनिस्ट अवस्थिति से प्रचार करते हैं। इस प्रचार में हमें संशोधनवादियों द्वारा ली गयी राष्ट्रवादी अवस्थिति को उजागर करना चाहिए। संशोधनवादियों की अवस्थिति भाजपा की घोर राष्ट्रवादी अवस्थिति की ही पूरक है। हमें उन सभी का पर्दाफ़ाश करना चाहिए जो कहते हैं कि राष्ट्र की सेवा के हित में सेना को राजनीतिक तौर पर तटस्थ रहना चाहिए। ये दोनों ही अवस्थितियाँ ग़लत हैं। लेनिन ने कहा था : "सशस्त्र बल तटस्थ नहीं हो सकते हैं और न ही होना चाहिए। उन्हें राजनीति में नहीं घसीटना पूँजीपति वर्ग और ज़ारशाही के पाखण्डी सेवकों का नारा है, जिन्होंने वास्तव में हमेशा सेना को प्रतिक्रियावादी राजनीति में घसीटा है, और रूसी सैनिकों को गुर्गे में बदल दिया है। उस संघर्ष से अलग रहना असम्भव है जिसमें लोग स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं। जो कोई भी इस संघर्ष के प्रति उदासीनता दिखाता है वह पुलिस सरकार के आक्रोश का समर्थन कर रहा है, जिसने स्वतंत्रता का केवल मज़ाक़ उड़ाने का वादा किया था।"

प्रश्न : सेना के सन्दर्भ में आंशिक माँगों के अतिरिक्त हमारी दूरगामी माँग क्या होगी?

उत्तर : हमारा दूरगामी लक्ष्य स्थायी सेना का उन्मूलन होगा। जनता से कटी हुई, सामाजिक-राजनीतिक जीवन से वंचित यह स्थायी सेना ही है जिसका इस्तेमाल जनता के आन्दोलनों को कुचलने के लिए किया जाता है। यह स्थायी सेना पूँजी की चाकर होती है। लेनिन बताते हैं कि :

"सर्वत्र तमाम देशों में स्थायी सेना को इतना बाहरी दुश्मन के ख़िलाफ़ नहीं इस्तेमाल किया जाता, जितना कि अन्दरूनी दुश्मन के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किया जाता है। स्थायी सेना सर्वत्र प्रतिक्रियावाद का हथियार, श्रम के विरुद्ध संघर्ष में पूँजी की चाकर और जनता की स्वतंत्रता का हत्यारा बन गयी है। इसलिए अपनी महान मुक्तिदायी क्रान्ति में मात्र आंशिक माँगें पेश कर खड़े न रहें। बुराई को जड़ से उखाड़ फेंकें। स्थायी सेना का बिल्कुल उन्मूलन कर डालें। सेना हथियारबन्द जनता के साथ घुल-मिल जाये, सैनिक अपना फ़ौजी ज्ञान जनता तक पहुँचाएँ, बैरकें लुप्त हों और उनका स्थान स्वतंत्र सैनिक स्कूल लें। दुनिया में कोई ताक़त स्वतंत्र रूस का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पायेगी, अगर इस स्वतंत्रता का दुर्ग फ़ौजी जाति-व्यवस्था को नष्ट कर देनेवाली तमाम सैनिकों को नागरिक तथा हथियार रखने में सक्षम तमाम नागरिकों को सैनिक बना देनेवाली हथियारबन्द जनता हो।

"...जब तक दुनिया में उत्पीड़ित तथा शोषित रहेंगे, तब तक हमें निरस्त्रीकरण करने का नहीं, वरन पूरी जनता को हथियारबन्द करने का प्रयास करना होगा। मात्र यही स्वतंत्रता की पूर्ण रक्षा करेगा। मात्र यही प्रतिक्रियावाद का तख़्ता पूरी तरह उलट सकेगा। परिवर्तन की केवल इन अवस्थाओं के अन्तर्गत ही मुट्ठीभर शोषक नहीं, अपितु लाखों-लाख मेहनतकश वास्तविक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेंगे।"

परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि हम तात्कालिक तौर पर सैनिकों की जनवादी और राजनीतिक माँगों को न उठायें। अन्त में हम लेनिन द्वारा सशस्त्र सेनाओं और नौसेनाओं के बीच प्रचार के बारे में उद्धरण से अपनी बात ख़त्म करेंगे :

"पूँजीवादी राज्यों की सशस्त्र सेनाओं और नौसेनाओं के बीच प्रचार के तरीक़े प्रत्येक देश की विशेष परिस्थितियों के अनुकूल होने चाहिए। शान्तिवादी प्रकृति का सैन्यवाद विरोधी आन्दोलन (या आन्दोलनपरक प्रचार) अत्यन्त हानिकारक होता है और सर्वहारा वर्ग को निशस्त्र करने के पूँजीपति वर्ग के प्रयासों की मदद करता है। सर्वहारा वर्ग, उसूली तौर पर पूँजीपति वर्ग की हर तरह की सामरिक (या सैन्य) संस्थाओं को ख़ारिज करता है और आम तौर पर पूरी ताक़त के साथ उनका मुक़ाबला करता है। लेकिन फिर भी मज़दूरों को भविष्य की क्रान्तिकारी लड़ाइयों का सैनिक प्रशिक्षण देने के लिए वह इन संस्थाओं (सेना, राइफ़ल, क्लब, नागरिक सुरक्षा संगठन आदि) का इस्तेमाल करता है। इसलिए घनीभूत राजनीतिक आन्दोलन (या आन्दोलनपरक प्रचार) की धार नौजवानों और मज़दूरों के सैनिक प्रशिक्षण के विरुद्ध नहीं बल्कि सैन्यवादी सत्ता और अफ़सरों के प्रभुत्व के विरुद्ध केन्द्रित होनी चाहिए। मज़दूरों को हथियारों से लैस करने की प्रत्येक सम्भावना का बड़ी तत्परता के साथ लाभ उठाना चाहिए।

"अफ़सरों की भौतिक रूप से सुविधाजनक स्थितियों, साधारण सैनिकों के प्रति ख़राब व्यवहार और उनके जीवन की सामाजिक असुरक्षा आदि के रूप में प्रकट होने वाले वर्ग अन्तरविरोधों को सैनिकों के बीच ज़्यादा से ज़्यादा स्पष्ट किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त आन्दोलनपरक प्रचार के ज़रिए आम सैनिकों के बीच यह तथ्य स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि उनका भविष्य अटूट रूप से शोषित वर्गों की नियति के साथ जुड़ा हुआ है। प्रारम्भिक क्रान्तिकारी उद्वेलन के अपेक्षाकृत उन्नत दौर में साधारण सैनिकों और नौसैनिकों द्वारा अपने अफ़सरों का जनवादी ढंग से चुनाव करने और सैनिक परिषदों का गठन करने की माँग पूँजीवादी शासन की बुनियाद को कमज़ोर करने में विशेष लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

"पूँजीपति वर्ग द्वारा वर्ग युद्ध में इस्तेमाल की जाने वाली चुनिन्दा सैनिक टुकड़ियों और विशेषकर सशस्त्र स्वयंसेवक जत्थों के ख़िलाफ़ आन्दोलनात्मक प्रचार की कार्रवाई के समय सर्वाधिक सतर्कता और अधिकतम सावधानी बरतने की हमेशा आवश्यकता होती है।"

"जब भी इन सेनाओं और जत्थों की सामाजिक संरचना और भ्रष्ट आचरण के चलते ऐसा अवसर उत्पन्न हो जाये; तो (सेना में) विघटन की स्थिति उत्पन्न करने के लिए आन्दोलनात्मक प्रचार के हर अनुकूल क्षण का पूरा उपयोग किया जाना चाहिए। जहाँ पर भी इसका पूँजीवादी चरित्र एकदम उजागर हो, मिसाल के तौर पर अफ़सरों की कोर में, वहाँ पूरी जनता के सामने उसे बेनक़ाब करना चाहिए तथा उन्हें इतनी अधिक घृणा और सार्वजनिक तिरस्कार का पात्र बना देना चाहिए कि अपने ख़ुद के अलगाव के कारण वे भीतर से ही विघटन के शिकार हो जायें।"

अब मज़दूरों-किसानों के बेटे-बेटियों को पूँजीपति वर्ग के “राष्ट्र” की “रक्षा” भी ठेके पर करनी होगी!

(पेज 1 से आगे)

नहीं खड़े रह सकते?” लेकिन अब तो सैनिकों की ही बारी आ गयी! अब ये सैनिकों को किसका हवाला देंगे?

‘अग्निपथ’ योजना को लागू करने का असली कारण क्या है?

असली कारण है आर्थिक संकट के दौर में सरकारी घाटे को कम करना। ज़ाहिर है, सरकारी घाटा कम करने के लिए सांसदों, विधायकों, नेताओं-मंत्रियों के मोटे-मोटे वेतनों, भत्तों, छूटों, सहूलियतों, उनकी सुरक्षा, आवास, सुविधाओं आदि पर ख़र्च होने वाले लाखों करोड़ रुपयों के ख़र्च में कोई कमी नहीं की जायेगी! उल्टे, वह तो बढ़ता जायेगा! हर साल सारी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियाँ आपसी रज़ामन्दी से सांसदों-विधायकों के वेतन-भत्तों व सुविधाओं में बढ़ोत्तरी करवाती हैं। इस मसले को लेकर इनमें कभी जूतम-पैजार नहीं होती! पूँजीपति घरानों को तमाम करों से छूट देने और जनता की सम्पदा को लूटकर लगभग मुफ़्त में इनके हवाले करने से होने वाले भारी सरकारी घाटे को लेकर मोदी सरकार और भाजपा समेत सभी पूँजीवादी चुनावबाज़ पार्टियों को कोई चिन्ता नहीं होती! लेकिन सभी सरकारी विभागों के कर्मचारियों व मज़दूरों की स्थायी नौकरी, उनके वेतनों, उनके भत्तों, उनकी पेंशनों आदि के बोझ से सरकारी घाटा बढ़ जाता है!

‘अग्निपथ’ योजना के तहत चार साल की ठेके की नौकरी की व्यवस्था क्यों की गयी है?

क्योंकि ग्रैच्युटी एक्ट के अनुसार 4.5 वर्ष तक नौकरी के बाद व्यक्ति ग्रैच्युटी का अधिकारी हो जाता है, जिसके कारण सरकार को इन सैनिकों को ढाई महीने का अतिरिक्त वेतन देना पड़ेगा। देश में कनफ़ेडरेशन ऑफ़ आल इण्डिया ट्रेडर्स के मातहत 40,000 संघों में संगठित आठ करोड़ पंजीकृत छोटे, मँझोले और बड़े व्यापारी हैं, लेकिन जीएसटी के तहत पंजीकृत व्यक्तियों और कारोबारों की संख्या मात्र 1.4 करोड़ है। इसी प्रकार, कारपोरेट पूँजीपति घराने भारी पैमाने पर टैक्स चोरी करते हैं और उन पर लगने वाले टैक्सों को मोदी सरकार समेत पिछले तीन दशकों में आयी सारी सरकारों ने लगातार घटाया है। साथ ही, खेतिहर पूँजीपति वर्ग यानी धनी किसानों-कुलकों को तो करों से छूट दी गयी है। वहीं दूसरी ओर आम मेहनतकश जनता द्वारा दिये जाने वाले अप्रत्यक्ष करों में लगातार बढ़ोत्तरी की गयी है। लेकिन सरकारी घाटे को कम करने, नेताओं-मंत्रियों-सांसदों-विधायकों की ऐय्याशी और पूँजीपति वर्ग की मुनाफ़ाख़ोरी को बढ़ाने के लिए ये क़दम भी नाकाफ़ी साबित हुए। आर्थिक संकट के दौर में सरकारी घाटा और भी ज़्यादा बढ़ा क्योंकि सरकार का राजस्व अर्थव्यवस्था में पैदा होने वाले अधिशेष से ही आता है। यदि समूची अर्थव्यवस्था में मुनाफ़े की दर घटती है, तो सरकारी आमदनी में भी कमी आती है।

पहले मोदी सरकार ने लोगों की पेंशन पर हमला बोला। फिर सरकारी विभागों में भर्तियों को लगभग रोक दिया। पेट्रोलियम उत्पादों पर भारी कर लगाकर सरकारी घाटे को कम करने का काम किया। देशभर में पूँजीपति वर्ग को नये लेबर कोड्स के तहत मज़दूरों के अन्धाधुन्ध शोषण की पूरी छूट देने की भी तैयारी की जा चुकी है, हालाँकि देश के 93 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र के मज़दूरों की खुली लूट की पूरी छूट तो पहले से ही मिली हुई थी। अब श्रम क़ानूनों की वजह से जो थोड़ा-बहुत सिरदर्द होता था, वह भी ख़त्म किया जा रहा है। लेकिन इन सबके बावजूद इस देश के शासक वर्गों की ऐय्याशी का पूरा इन्तज़ाम नहीं हो पा रहा है! इसलिए अब सेना में ‘अग्निपथ’ योजना के ज़रिए देश के मज़दूरों-ग़रीब किसानों के बेटे-बेटियों से स्थायी नौकरी का हक़, पेंशन का हक़ और ग्रैच्युटी का हक़ भी छीना जा रहा है।

यहाँ पर सेना के नाम पर अन्धराष्ट्रवाद फैलाकर जनता को मूर्ख बनाने की भाजपा और संघ परिवार की साज़िशों का भी पर्दाफ़ाश हो जाता है। न जाने सेना और सैनिकों के नाम पर इस देश के आम मेहनतकश लोगों को कितनी बार मूर्ख बनाया जा चुका है। सैनिकों और उनकी क़ुरबानी का हवाला देकर लोगों को भावुक कर दिया जाता है और फिर उनसे जो कुछ वसूला जा सकता है, वह वसूल लिया जाता है। नोटबन्दी के समय भी ऐसा ही किया गया था। तमाम युद्धों के दौरान भी ऐसा किया जाता है, जबकि इन युद्धों के पीछे हमेशा ही पूँजीपतियों के हितों का टकराव होता है और इस टकराव को निपटाने के लिए हज़ारों सैनिकों की बलि दे दी जाती है, जो कि इस देश के आम मेहनतकश लोगों के ही बेटे-बेटियाँ होते हैं।

आम सैनिक कौन होते हैं? क्या आपने सुना है कि अमीरज़ादों के बेटे-बेटियाँ सेना में आम सिपाही के तौर पर भर्ती के लिए आवेदन करते हों? नहीं! क्या कभी किसी नेता-मंत्री-सांसद-विधायक के बच्चे सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में आम सिपाही के तौर पर भर्ती होते हैं? नहीं! यह आम मेहनतकश आबादी, यानी, मज़दूरों, छोटे व मँझोले किसानों, निम्नमध्यवर्ग के लोगों के बेटे-बेटियाँ हैं, जो सेना-पुलिस आदि में आम सिपाही के तौर पर भर्ती होते हैं। बचपन से ही मँहगे निजी स्कूलों में अमीरज़ादों के बच्चों को इंजीनियर, डॉक्टर, आईएएस अधिकारी आदि बनने या पैसा कमाने के लिए विदेश फुर्र हो जाने के सपने दिखाये जाते हैं और उसकी तैयारी करायी जाती है, लेकिन आम सरकारी स्कूलों में सामान्य मेहनतकश आबादी के बेटे-बेटियों को मज़दूर बनकर, छोटा-मोटा कर्मचारी बनकर या फिर सेना-पुलिस में सिपाही बनकर “राष्ट्र” की “सेवा” करने का पाठ पढ़ाया जाता है!

यह “राष्ट्र” क्या है? यह “राष्ट्र” पूँजीपति वर्ग का “राष्ट्र” है और जहाँ कहीं आप “राष्ट्रीय हित” पढ़ें, उसे आप पूँजीपति वर्ग का हित पढ़ा करें। **यह मज़दूरों और नौजवानों के लिए एक बुनियादी सबक़ है।** देश कोई काग़ज़ पर बना नक़्शा नहीं होता। देश उसमें रहने वाले आम मेहनतकश लोगों से बनता है, जो सुई से लेकर जहाज़ तक सबकुछ बनाते हैं और समूचे देश को चलाते हैं। अगर यह आम मेहनतकश आबादी ही ग़रीबी और बेरोज़गारी की मार झेल रही हो, भुखमरी और अशिक्षा के गर्त में पड़ी हो, अगर फ़सल उगाने वाले ग़रीब किसान और खेतिहर मज़दूर भूखे हों, अगर मकान बनाने वाले मज़दूर बेघर हों, और कपड़े बनाने वाले मज़दूरों के पास तन ढँकने को कपड़े न हों, तो “राष्ट्र” के “गौरव” और “रक्षा” की बातें हम मज़दूरों के लिए बकवास हैं। वास्तव में, “राष्ट्रीय हित” और “राष्ट्र की रक्षा” के नाम पर पूँजीपति वर्ग के हितों की सेवा होती है और उन्हीं की रक्षा होती है। देशों के बीच युद्ध भी वास्तव में पूँजीपति वर्गों के हितों के टकराव की वजह से ही होता है, जिसके मूल में होता है पूँजीवादी शासक वर्ग का विस्तारवाद, लाभप्रद निवेश के अवसरों की तलाश, बाज़ारों पर क़ब्ज़े की जद्दोजहद और सस्ते श्रम और कच्चे माल के स्रोतों पर क़ब्ज़ा करने की चाहत। पूँजीपति वर्ग के इन्हीं हितों को पूँजीपतियों की सरकार द्वारा देश की आम मेहनतकश जनता के सामने “राष्ट्रीय हित” बनाकर पेश किया जाता है। वास्तव में, सेना व पुलिस का इस्तेमाल युद्धों के दौरों में और शान्ति के दौरों में भी स्वयं देश के अन्दर के मज़दूरों, बेरोज़गारों और ग़रीबों को कुचलने के लिए किया जाता है।

अगर हम उन लाखों-लाख बेरोज़गार नौजवानों की बात करें जो कि सेना व पुलिस में आम सिपाही की नौकरियों के लिए तैयारी करते रहते हैं, कसरत और पढ़ाई करते रहते हैं, तो उनके लिए सेना व पुलिस में भर्ती सर्वप्रथम रोज़गार का एक अवसर है। अभी तक यह अवसर उन्हें सीमित अर्थों में आर्थिक व सामाजिक सुरक्षा मुहैया कराता था। यह दीगर बात है कि सेना व पुलिस के भीतर आम सिपाहियों के साथ सेना के अधिकारियों द्वारा जो बर्ताव किया जाता है, उन्हें बैरकों में जिन हालात में रखा जाता है, उन्हें जो वेतन दिया जाता है, और जिस तरीक़े से उन्हें उनके बुनियादी जनवादी अधिकारों से वंचित रखा जाता है, वह अपने आप में “राष्ट्र सेवा” के सारे दावों का मख़ौल बना देता है। उन्हें हर प्रकार की राजनीतिक गतिविधि और राजनीतिक चेतना से दूर रखने का प्रयास किया जाता है। उनमें सोचने-विचारने की शक्ति को कुचल डालने का हर प्रयास किया जाता है और उन्हें बस आदेश पर अमल करने का आदी बनाया जाता है, यह प्रश्न उठाये बिना कि आदेश क्या है, किसके द्वारा दिया जा रहा है और किसकी सेवा के वास्ते दिया जा रहा है। उन्हें यूनियन या संगठन बनाने की कोई आज़ादी नहीं होती। दूसरे शब्दों में, उन्हें राजनीतिक चेतना विकसित करने से रोकने का हर-सम्भव इन्तज़ाम सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में किया जाता है। सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों के भीतर अवसाद और आत्महत्याओं के बढ़ते मामलों का कारण दरअसल इनके भीतर मौजूद भयंकर शोषण, उत्पीड़न और अपमान है। लेकिन इन सबके बावजूद बेरोज़गारी की मार झेलने वाले लाखों-लाख नौजवान परिवार के पालन-पोषण के लिए और सेवानिवृत्ति के बाद मिलने वाली सहूलियतों के कारण सेना में भर्ती होने की जद्दोजहद में लगे रहते हैं।

‘अग्निपथ’ योजना के ज़रिए रोज़गार का यह अवसर और आर्थिक सुरक्षा व निश्चितता भी अब ठेका प्रथा लाकर समाप्त की जा रही है।

ऐसे में, देश के क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का क्या रुख़ होना चाहिए? इस सवाल का जवाब देने के लिए हमें कुछ बातें समझ लेनी चाहिए।

पहली बात, सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों और साथ ही पुलिस बलों में आम सिपाही वास्तव में वर्दी में ग़रीब किसान व मज़दूर-मेहनतकश ही हैं। मेहनतकशों की वर्ग एकता का बुनियादी प्रश्न है कि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग उनके साथ एकजुटता ज़ाहिर करे, उनके दुखों-तकलीफ़ों में उनके साथ खड़ा हो और उनकी जायज़ राजनीतिक व आर्थिक माँगों का पुरज़ोर समर्थन करे। जो लोग इस प्रकार का तर्क दे रहे हैं कि क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को इन आम सिपाहियों के रोज़गार के अधिकार और उनकी सहूलियतों के वास्ते उनके साथ नहीं खड़ा होना चाहिए क्योंकि वे पूँजीवादी सेना के लिए काम करते हैं और उनका इस्तेमाल अक्सर आम मेहनतकशों के आन्दोलनों व संघर्षों को ही कुचलने के लिए किया जाता है, वे क्रान्तिकारी सर्वहारा राजनीति का ‘क ख ग’ भी नहीं जानते हैं। इस तर्क से सरकार के तमाम विभागों में भी भर्ती के लिए हमें संघर्ष नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे सभी विभाग वास्तव में पूँजीपति वर्ग की तानाशाही को ही अलग-अलग रूप में क़ायम करने का काम करते हैं। सेना-पुलिस के लाखों-लाख नौजवानों को पूँजीपति वर्ग के रहमो-करम पर छोड़ देना, उनके पूँजीवादी प्रचार के सामने अरक्षित छोड़ देना और उनकी जायज़ माँगों व अधिकारों के लिए उनका समर्थन न करना एक सर्वहारा-विरोधी लाइन है। यह एक प्रकार की “वामपन्थी” लाइन है, जो वास्तविकता को नहीं समझती और मनोगत तरीक़े से वास्तविकता से सैंकड़ों क़दम आगे चलने का प्रयास करती है। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में काम करने वाली मेहनतकशों के बेटे-बेटियों की व्यापक संख्या तक अपनी बात अवश्य पहुँचानी चाहिए और उन्हें समूची व्यवस्था, शासक वर्ग और उनके शोषण-उत्पीड़न की कड़वी सच्चाई से वाक़िफ़ कराना चाहिए।

दूसरी बात, सेना व पुलिस बलों में काम करने वाली इस आम मेहनतकश आबादी के लिए यह काम सर्वप्रथम एक रोज़गार है। कुछ लोग कहते हैं कि फिर तो क्रान्तिकारियों को सरकार के ख़ुफ़िया विभाग और रॉ जैसी एजेंसियों में भी भर्ती की माँग उठानी चाहिए जो कि क्रान्तिकारी आन्दोलनों के भीतर घुसपैठ कर उन्हें कुचलने के लिए ज़रूरी सूचनाएँ इकट्ठा करते हैं! यह भी एक

(पेज 14 पर जारी)

सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में भर्ती की 'अग्निपथ' योजना के ज़रिए देश के युवाओं के रोज़गार पर एक और हमला

(पेज 13 से आगे)

अव्यावहारिक और "वामपन्थी" बचकानेपन की सोच है। यह दो स्तरों पर ग़लत है। ख़ुफ़िया एजेंसियाँ हों या फिर सेना व अर्द्धसैनिक बल, इन सभी जगहों पर एक वर्ग विभाजन है। हम हर जगह सर्वहारा वर्गीय लाइन को लागू करते हैं और एक को दो में बाँटते हैं। किसी भी सरकारी विभाग में काम करने वाले आम मेहनतकशों व मज़दूरों को संगठित करना, उनके बीच राजनीतिक चेतना के स्तरोन्नयन के लिए काम करना क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग का कर्तव्य है। इसी के ज़रिए क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग अपनी राजनीति के वर्चस्व को समाज और राजनीति के हर क्षेत्र में क़ायम कर सकता है। सर्वहारा वर्ग किसी मसले पर कोई अवस्थिति ही न अपनाये, या वह आम मेहनतकश आबादी के ऐसे हिस्सों की जायज़ आर्थिक व राजनीतिक माँगों का समर्थन न करे, तो वह कभी व्यापक जनसमुदायों को नेतृत्व देने वाला हिरावल वर्ग बन ही नहीं सकता है। ऐसे सभी विभागों में भी यदि वहाँ काम करने वाली आम मेहनतकश आबादी यूनियन या संगठन बनाने के जनवादी अधिकार या बेहतर वेतन-भत्तों व कार्यस्थितियों की आर्थिक माँगों को उठाती है, तो क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग को उसका समर्थन करना चाहिए, उनके बीच अपने लक्ष्य और आदर्श का प्रचार करना चाहिए, उनके बीच पूँजीपति वर्ग के शोषण और उत्पीड़न की सच्चाई को उजागर करना चाहिए और उनके बीच इस बात का प्रचार करना चाहिए कि उनकी एकजुटता वास्तव में देश के करोड़ों-करोड़ मज़दूरों, ग़रीब किसानों व निम्नमध्यवर्गीय मेहनतकश आबादी के साथ बनती है। इस प्रकार का तर्क जो दूसरी ग़लती करता है वह है ख़ुफ़िया विभागों और सेना व अर्द्धसैनिक बलों में फ़र्क़ न करना। ये दोनों एक ही चीज़ नहीं हैं। ख़ुफ़िया विभाग में उच्च अधिकारियों से लेकर मध्यम व निम्न-मध्यम स्तर तक के कर्मचारियों को विशिष्ट तौर पर विचारधारात्मक व राजनीतिक प्रशिक्षण दिया जाता है और उन्हें व्यवस्थित तौर पर जनविरोधी पूँजीवादी विचारधारा व राजनीति में 'ट्रेन' किया जाता है। सेना व पुलिस बलों के आम सिपाहियों का मसला इस अर्थ में बिल्कुल अलग है।

दुनियाभर में जनक्रान्तियों के दौरान सेना व पुलिस बलों का अच्छा-खासा हिस्सा क्रान्तिकारियों के साथ आ गया। इसमें एक ओर वस्तुगत स्थितियों की एक भूमिका थी तो दूसरी ओर इसकी भी भूमिका थी कि क्रान्तिकारियों ने सेना व पुलिस बलों में काम करने वाले मेहनतकशों के साथ भी व्यापक एकजुटता स्थापित की थी, उनकी भौतिक-आर्थिक माँगों का समर्थन किया था और उनके बीच अपने सन्देश को लेकर वे लगातार गये थे। आज जब सैनिक व अर्द्धसैनिक बलों में ठेका प्रथा को लागू किये जाने की पूरी तैयारी मोदी सरकार कर चुकी है, तो ऐसे में क्या सर्वहारा क्रान्तिकारियों को इसका विरोध नहीं करना चाहिए? ऐसा सोचने वाला कोई शेख़चिल्ली के जैसा "वामपन्थी" बचकानेपन का शिकार व्यक्ति ही हो सकता है, जिसे न तो क्रान्ति के विज्ञान की कोई जानकारी है और न ही दुनियाभर में क्रान्तियों के इतिहास के बारे में। इन माँगों का समर्थन करने का अर्थ पूँजीपति वर्ग द्वारा "दमन के अधिकार" का समर्थन नहीं है, बल्कि पूँजीपति वर्ग के इस अधिकार को भंग करने की दिशा में एक क़दम है।

'अग्निपथ' के विरोध में नौजवानों की जो बग़ावत फूटी, वह वास्तव में सिर्फ़ सेना में भर्ती के ठेकाकरण के ख़िलाफ़ नहीं थी। वह आम तौर पर बेरोज़गारी के विरुद्ध बेरोज़गार युवाओं का विद्रोह था। देश में बेरोज़गारी आज सारे रिकॉर्ड तोड़ रही है। निजी क्षेत्र में भी रोज़गार सृजन की दर नगण्य है और जो भर्तियाँ हो भी रही हैं वे ठेका या कैज़ुअल मज़दूर के रूप में हो रही हैं, जिनमें मज़दूरों से ग़ुलामों की तरह काम करवाया जाता है। सरकारी नौकरियाँ तो लुप्तप्राय ही हो चुकी हैं और जो बची हैं वे भी समाप्त की जा रही हैं। सरकारी विभागों में भर्ती के लिए आवेदन हेतु फ़ॉर्म ही नहीं निकाले जा रहे, जहाँ फ़ॉर्म निकालकर बेचे जा रहे हैं वहाँ परीक्षाएँ नहीं करवायी जा रही हैं, जहाँ परीक्षाएँ हो रही हैं वहाँ परीक्षाओं के परिणाम नहीं निकाले जा रहे, जहाँ परिणाम निकाले जा रहे हैं वहाँ उत्तीर्ण होने वाले आवेदकों की भर्ती प्रक्रिया नहीं चलायी जा रही है। ख़ुद सेना में पिछले तीन वर्षों से कोई भर्ती नहीं की गयी है। नतीजतन, रोज़गार की आस में चप्पलें फटकाते-फटकाते, हज़ारों रुपये तैयारी करते हुए ख़र्च करते-करते और इन्तज़ार करते-करते नौजवानों की नौजवानी ख़र्च हो जा रही है और अन्त में उनके हाथों में बस टूटे सपनों का अम्बार लगता है। फ़ासीवादी मोदी सरकार के आठ वर्षों के कार्यकाल में बेरोज़गारी ने अब तक का सम्भवत: सबसे विकराल रूप धारण किया है।

लेकिन मौजूदा विरोध आन्दोलन का जारी रहना या टिके रहना मुश्किल है। वजह यह है कि ये आन्दोलन पूरी तरह से स्वत:स्फूर्त है। इसके पीछे इसे दिशा देने वाली और इसे सचेतन तौर पर एक निश्चित माँगपत्रक के इर्द-गिर्द एकजुट करने वाली कोई क्रान्तिकारी राजनीतिक शक्ति मौजूद नहीं है। ऐसे में, इस आन्दोलन के वक़्त बीतने के साथ बिखर जाने की सम्भावना ज़्यादा है। कांग्रेस समेत सभी चुनावबाज़ पूँजीवादी पार्टियाँ इस मसले का चुनावी लाभ उठाने से ज़्यादा सोचने की न तो मंशा रखती हैं और न ही क्षमता। वहीं दूसरी ओर काडर-आधारित संगठन के आधार पर संघ परिवार लगातार अपना प्रचार जनता के बीच ले जा रहा है। साथ ही समूचा कारपोरेट मीडिया (गोदी मीडिया) मोदी सरकार के इस फ़ैसले के पक्ष में राय बनाने में लगा हुआ है। नतीजतन, ज़्यादा सम्भावना इसी बात की है कि 'अग्निपथ' योजना को ज़्यादा से ज़्यादा मामूली फेर-बदल के साथ मोदी सरकार लागू करेगी। साथ में, अलग-अलग सरकारी विभाग चार साल की सेवा के बाद निकाल दिये गये जवानों को अपने यहाँ नौकरी में आरक्षण देने का झुनझुना थमा रहे हैं जिससे कि नौजवानों का ग़ुस्सा कुछ शान्त हो। पूँजीपति वर्ग के तमाम सदस्य जैसे कि टाटा, महिन्द्रा आदि भी इस योजना का समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि सैनिक प्रशिक्षण पाये हुए इन जवानों को नौकरी देने में निजी क्षेत्र भी पहलक़दमी दिखायेगा। उनका वास्तविक अर्थ यह है कि जिस प्रकार सेना में बिना सवाल उठाये आदेशों का पालन करना सिखाया जाता है, उसी प्रकार इन मालिकों को ऐसे मज़दूर भी चाहिए जो कि अपने शोषण पर बिना प्रश्न उठाये खटते रहें! भाजपा के नेता तो ऐसे सैनिकों को भाजपा कार्यालय में सिक्योरिटी गार्ड की नौकरी देने की पेशकश भी कर रहे हैं! साथ ही, चार वर्ष की सेवा के बाद सड़कों पर चप्पल फटकाती निम्न-मध्यवर्गीय युवाओं की हताश और दिशाहीन आबादी को फ़ासीवादी संघ परिवार का पैदल सैनिक बनाने की पूरी योजना भी संघ परिवार ने बना रखी है, हालाँकि उनके इस मंसूबे की कामयाबी या नाकामयाबी इस बात पर निर्भर करती है कि सर्वहारा वर्ग इस आबादी के बीच सतत् राजनीतिक प्रचार अभी से करता है या नहीं और उसे मौजूदा फ़ासीवादी शासन और समूची पूँजीवादी व्यवस्था की सच्चाई से अवगत कराता है या नहीं।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि एक सचेतन क्रान्तिकारी नेतृत्व की ग़ैर-मौजूदगी में नौजवानों द्वारा 'अग्निपथ' के मौजूदा प्रतिरोध के बिखर जाने की सम्भावना अधिक है और वोटों के मामले में भी यह भाजपा को कितना नुक़सान पहुँचायेगा, इसके बारे में अभी दावे से कुछ कहना मुश्किल नहीं है क्योंकि देश के स्तर पर और तमाम राज्यों के स्तर पर भी विपक्ष को फ़ासीवादी भाजपा व संघ परिवार ने दन्त-नखविहीन बना दिया है और उनके निर्णय लेने की प्रक्रिया को भी किसी न किसी रूप में भाजपा और संघ परिवार ही निर्धारित करने लगे हैं। पूँजीपति वर्ग के भारी आर्थिक समर्थन के कारण भाजपा के पास पैसे की इतनी ज़बर्दस्त ताक़त है कि वह सभी पूँजीवादी विपक्षी दलों के विधायकों-सांसदों की खुलेआम ख़रीद-फ़रोख़्त करती है और जो बिकने में आना-कानी करते हैं, उनके कान उमेठने के लिए इनफ़ोर्समेण्ट डाइरेक्टोरेट, सीबीआई जैसी तमाम एजेंसियाँ तो हैं ही! महाराष्ट्र में उद्धव ठाकरे की सरकार को गिराकर भाजपा-नीत गठबन्धन की सरकार बनाने की महान लोकतांत्रिक हरकत की है, उससे यह बात स्पष्ट तौर पर समझी जा सकती है।

ऐसे में, क्रान्तिकारी सर्वहारा शक्तियों को अपनी क्षमता और शक्ति के अनुसार सर्वहारा वर्गीय लाइन को लेकर इस मसले पर चल रहे प्रतिरोध आन्दोलन में अधिकतम सम्भव हिस्सेदारी करनी चाहिए, इसे एक ठोस दिशा, एक ठोस माँगपत्रक और एक ठोस नेतृत्व देने का प्रयास करना चाहिए और इस प्रक्रिया में मौजूदा फ़ासीवादी मोदी सरकार और समूची पूँजीवादी व्यवस्था की सच्चाई को जनता के सामने बेपर्द करना चाहिए। ऐसे मौक़े पर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना आत्मघाती है। मज़दूर व युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं को मुहल्लों, कॉलोनियों, बस्तियों में घर-घर जाना चाहिए और विशेष तौर पर और छात्रों-युवाओं के लॉजों में जाना चाहिए और इस मसले के बारे में सच्चाई से जनसमुदायों को अवगत कराना चाहिए। किसी भी प्रकार की अव्यावहारिक "वामपन्थी" ग़ैर-सर्वहारा लाइन को अपने दिमाग़ से निकाल देना चाहिए और 'अग्निपथ' के समूचे मसले पर व्यापक व सघन राजनीतिक प्रचार अभियान चलाना चाहिए। इसमें ज़रा भी देर और लापरवाही एक भारी ग़लती होगी।

मज़दूरों का आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार का सवाल

(पेज 17 से आगे)

हमने भारत में सुधारवादी अवसरवाद के विपरीत छोर पर दुस्साहसवाद और संघाधिपत्यवाद पैदा होने को इंगित किया था। ट्रेडयूनियनों के प्रति पार्टी के रवैये के बारे में **वोइनोव (ए.वी. लुनाचार्स्की)** की पुस्तिका की भूमिका में लेनिन ने लिखा था, "पश्चिमी यूरोप के बहुतेरे देशों में क्रान्तिकारी संघाधिपत्यवादी अवसरवाद, सुधारवाद और संसदीय जड़वामनवाद का एक प्रत्यक्ष और अपरिहार्य परिणाम था। हमारे देश में भी "दूमा कार्रवाई" के पहले क़दमों ने अवसरवाद को अपार विस्तार प्रदान किया ओर मेंशेविकों को कैडेटों के जी-हज़ूरियों में तब्दील कर दिया। मिसाल के तौर पर, प्लेख़ानोव, अपने दैनन्दिन राजनीतिक कार्य में वस्तुत: प्रोकोपोविच और कुस्कोवा महाशयों के साथ घुल-मिल गये। 1900 में उन्होंने बर्नस्टीनवाद के लिए, रूसी सर्वहारा का सिर्फ़ "पिछवाड़ा" ही निहारने के लिए, उनकी भर्त्सना की थी ('राबोचेये देलो' के सम्पादक मण्डल के लिए *Vademecum*, जेनेवा, 1900)। पर 1906-07 में पहले ही मतपत्रों ने प्लेख़ानोव को इन सज्जनों की बाँहों में धकेल दिया जो अब रूसी उदारतावाद का "पिछवाड़ा" निहार रहे हैं। संघाधिपत्यवाद रूस की ज़मीन पर "प्रतिष्ठित" सामाजिक जनवादियों के इस लज्जास्पद आचरण के विरुद्ध प्रतिक्रिया की तरह उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता।"

हमारे देश में भी तेलंगाना संघर्ष की पराजय के बाद संशोधनवादी राजनीति हावी रही जिसकी अति-प्रतिक्रिया के तौर पर ही चारु मजूमदार का "वामपन्थी" दुस्साहसवादी भटकाव पैदा हुआ। संशोधनवाद की एक प्रतिक्रिया यदि "वामपन्थी" दुस्साहसवाद की धारा के रूप में हो रही है तो दूसरी प्रतिक्रिया अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद के रूप में सामने आती है। यह पुछल्लावाद ही है जो क्रान्तिकारियों को जनता की पूँछ पकड़कर लटकने की राय देता है। हमें पुछल्लावाद और संशोधनवाद दोनों का ही विरोध करना होगा।

शिक्षा का भगवाकरण : पाठ्यपुस्तकों में बदलाव छात्रों को संघ का झोला ढोने वाले कारकून और दंगाई बनाने की योजना

– लता

नेता-मंत्रियों और पूँजीपतियों के बच्चे महँगे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं और उच्च शिक्षा के लिए विदेशों के नामी-गिरामी विश्वविद्यालय जाते हैं। ये नेता-मंत्री और पूँजीपति गर्व से अपने बच्चों की तस्वीरें सोशल मीडिया पर डालते हैं। हम यह मानकर चलते हैं कि ये तो बड़े लोग हैं, इनके बच्चे तो अच्छी शिक्षा पायेंगे ही! लेकिन हमें यह भी सोचना चाहिए कि ये ही संघी नेता-मंत्री हमारे बच्चों को अपनी पार्टियों में भर्ती करते हैं, शाखा में बुलाते हैं और धर्म के नाम पर उनके दिमाग़ में ज़हर घोलते हैं, उन्हें दंगाई बनाते हैं, सड़कों पर गुण्डागर्दी करने को उकसाते हैं। इनके बच्चे ऊँची तनख़्वाह पायें और आलीशान घरों में रहें और हमारे बच्चे सड़कों की ख़ाक छानें और इनके दंगों के औज़ार बनें! भाजपाइयों का यही इरादा है।

सरकारी स्कूलों-कॉलेजों की जो स्थिति है वह हमसे छुपी नहीं है लेकिन अब शिक्षा पर हमला कई माध्यमों से हो रहा है। दिमाग़ में ज़हर घोलने और दंगाई बनाने का काम जो शाखा या संघ प्रायोजित स्कूलों में होता था आज वही काम स्कूली पाठ्यक्रमों में बदलाव लाकर देश स्तर पर किया जा रहा है। पाठ्यक्रमों के "औचित्यसाधन" के नाम पर उनका भगवाकरण हो रहा है। वैसे तो यह भगवाकरण लम्बे समय से जारी है लेकिन 2014 में मोदी के सत्ता में आने के बाद से तीन बार (2017, 2019 और 2022) पाठ्यक्रमों में बड़े बदलाव किये गये हैं और इस बार इसे पूरी तरह भगवा रंग में रंग देने की योजना है।

केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड व राज्य बोर्ड के तहत आने वाले स्कूलों के पाठ्यक्रम में बदलाव कर इनमें पढ़ने वाले बच्चों की तार्किक चेतना को कुन्द करने और उनके दिमाग़ में नफ़रत के बीज बोने की योजना केन्द्र सरकार तथा भाजपाशासित राज्य सरकारों की है।

अभी 6 महीने पहले राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) ने "औचित्यसाधन" के नाम पर स्कूल के पाठ्यक्रमों से इतिहास, जनसंघर्षों और जनवादी अधिकारों की जानकारी देने वाले कई हिस्सों और अध्यायों को हटा दिया है। किताबों से इन हिस्सों को हटाने के पीछे का तर्क दिया जा रहा है कि कोविड व लॉकडाउन से आयी पढ़ाई में बाधा के कारण विद्यार्थियों पर पढ़ाई का बोझ बढ़ गया था इसे ही कम करने के प्रयास में ऐसा किया जा रहा है। लेकिन यह बोझ तो अब लगभग जीवन के सामान्य होते जाने से कम हो जायेगा लेकिन हटाये जा रहे हिस्से स्थाई तौर पर हटाये जा रहे हैं। समझा जा सकता है कि कोविड मात्र बहाना है असल निशाना बच्चों के इतिहास बोध, जनवादी चेतना और तार्किकता को कुन्द करना है।

गुजरात नरसंहार को इतिहास से मिटा देने की संघी साज़िश

2002 में गुजरात में हुए नरसंहार को छुपाने के लिए उसे बारहवीं के राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम से हटा दिया गया है। इस घटना में स्पष्ट तौर पर नरेन्द्र मोदी सरकार की देखरेख में संघ परिवार द्वारा गुजरात में सुनियोजित दंगे करवाये गये थे। दंगाइयों के वीडियो टेप इस बात के गवाह हैं। यह बात उस समय भी स्पष्ट थी लेकिन इसके तथ्य धीरे-धीरे सामने आने लगे। लेकिन आज जब स्वयं केन्द्र में वही व्यक्ति बैठा है जिसकी राज्य सरकार की देखरेख में इस नरसंहार को अंजाम दिया गया था तो ज़ाहिर है कि वह क़तई नहीं चाहेगा कि आने वाली पीढ़ियों को उसके कुत्सित कारनामों की जानकारी हो। इसलिए हज़ारों माँओं की चीख़ों, बच्चों के रोने-बिलखने, गर्भ तक से उन्हें निकालकर सड़कों पर काट डालने, हत्या, बलात्कार, आगजनी और हज़ारों-हज़ार के बेरोज़गार-बेघर हो जाने को जनमानस और विशेषकर युवा पीढ़ी के स्मृति पटल से ओझल किया जा रहा है। अब इन सच्चाइयों को बयान करने पर ही रोक लगाने का प्रयास किया जा रहा है और भारत की न्यायपालिका भी इसमें एक भूमिका निभा रही है और कह रही है कि इन सच्चाइयों का ज़िक्र करने से ही देश में तनाव बना रहता है, लेकिन जो संघी ताक़तें वास्तव में देश में तनाव फैला रही हैं, साम्प्रदायिकता फैला रही हैं और नरसंहारों का माहौल तैयार कर रही हैं व नरसंहार करवा रही हैं, वे न्यायपालिका की निगाह से ओझल हैं! ऐसा नहीं है कि इन पुस्तकों के अध्यायों में नरेन्द्र मोदी सरकार और अमित शाह के लिप्त होने की बात लिखी गयी थी। इनमें तो बस 2002 गुजरात हत्याकाण्ड की आलोचना की गयी थी। लेकिन साहब को इतना भी मंज़ूर नहीं! अपनी छवि स्वच्छ, साफ़-सुथरी रखने के लिए सभी दाग़-धब्बों को इस तरह धोया जा रहा है। साहब के जवानी के मुसलमान दोस्त अब्बास की खोज जारी है! तानाशाह की इतिहास में बेदाग़ तरीक़े से दर्ज होने की महत्वाकांक्षा भी है और अल्पसंख्यकों का उत्पीड़न और दमन जारी रखना उसकी राजनीति की ज़रूरत भी है। ऐसे में, इतिहास के तथ्य और ऐसे तथ्यों को दर्ज करने वाली पुस्तकें संघ परिवार और मोदी सरकार की निगाह में चुभ रही हैं, तो इसमें ताज्जुब की कोई बात नहीं है।

आपातकाल का काला अध्याय और मौजूदा फ़ासीवादी सरकार की आपातकाल से हमदर्दी

बारहवीं के राजनीतिशास्त्र के ही एक अध्याय जिसमें इन्दिरा गाँधी द्वारा 1975 में घोषित आपातकाल का ज़िक्र है उसके पाँच पन्ने कम कर दिये गये हैं। जिन पन्नों को हटाया गया है उसमें आपातकाल में सरकार द्वारा मनमाने तरीके से आपातकाल लगाने के निर्णय, आपातकाल के दौरान हुई राजनीतिक गिरफ़्तारियों, मीडिया पर नियंत्रण, कारावास में यंत्रणाओं व हत्याओं, ग़रीबों के विस्थापन, ज़बरन नसबन्दी और फ़रमानशाहियों की आलोचनात्मक चर्चा थी।

समाजशास्त्र की ही पुस्तक में अध्याय 6 में एक बार फिर आपातकाल का उल्लेख था। इस अध्याय में लिखा गया था कि आपातकाल के दौरान भारतवासियों ने कुछ समय के लिए तानाशाही का अनुभव किया और इस काल के विनाशकारी प्रभावों को झेला। अध्याय में लिखा था कि किस प्रकार आपातकाल के दौरान सभी जनवादी अधिकारों को स्थगित कर दिया गया, संसद को भंग कर दिया गया, बिना मुक़दमा चलाये लोगों को जेलों में भर दिया गया, सरकार सीधे क़ानून बनाने लगी और निचले तबक़े के अधिकारियों के कन्धों पर नीतियों को लागू करने और तत्काल परिणाम प्रस्तुत करने के लिए ज़ोर-ज़बर्दस्ती करने लगी। अधिकारियों और कर्मचारियों को बिना वजह बताये बर्ख़ास्त किया जा रहा था। लोगों में घोर असन्तोष था। 1977 के चुनाव में जनता ने सरकार ने इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस पार्टी को हरा दिया। इस पूरे हिस्से को ही हटा दिया गया है! मज़दूर आन्दोलन के अध्याय से भी आपातकाल की चर्चा हटा दी गयी है जिसमें मज़दूर यूनियनों की सभी गतिविधियों पर प्रतिबन्ध की बात की गयी है।

आज जब देश में अघोषित अपातकाल की-सी स्थिति है, मीडिया पूरी तरह फ़ासीवादी सरकार के पैरों में लोट रही है, प्रतिरोध की आवाज़ को गिरफ़्तारियों और झूठे मुक़दमों से दबाया जा रहा है, सरकार फ़रमानशाही चला रही है (नोटबन्दी, बिना योजना लॉकडाउन, रेलवे के चौथे दर्जे के प्रवेश नियमों में बदलाव, अग्निपथ के माध्यम से सेना में ठेकाकरण, आदि), अभिव्यक्ति की आज़ादी छीन ली जा रही है तो देश के नौजवान इसकी तुलना घोषित आपातकाल से न कर लें इसलिए सरकार पाठ्यपुस्तकों से इन हिस्सों को हटा रही है।

प्रतिरोध आन्दोलनों के ज़िक्र से भयाक्रान्त मोदी सरकार

कक्षा छः से बारहवीं कक्षा तक के पाठ्यक्रम से कई अध्याय हटा दिये गये हैं जिनमें प्रतिरोध आन्दोलनों और सामाजिक आन्दोलनों की चर्चा थी। उत्तराखण्ड के चिपको आन्दोलन, नर्मदा बचाओ आन्दोलन, महाराष्ट्र में दलित पैन्थर, आन्ध्र प्रदेश का शराबबन्दी आन्दोलन, आदि जिन-जिन अध्यायों में थे उन्हें हटा दिया गया है या उन पन्नों को कम कर दिया गया है। इन आन्दोलनों की अपनी कमियाँ-कमज़ोरियाँ थीं, उन्हें भी दिखाया जाना चाहिए। लेकिन उन्हें पूरी तरह से हटाना शिक्षा से जनप्रतिरोध के इतिहास को मिटाने का प्रयास है। फ़ासिस्ट सबसे अधिक जनप्रतिरोध से भयाक्रान्त रहते हैं। ऐसा नहीं है कि इनके जनप्रतिरोधों के इतिहास को मिटा देने से जनप्रतिरोध की सम्भावनाएँ मिट जायेंगी। लेकिन निश्चित ही प्रतिरोध का इतिहास भावी पीढ़ी को अन्याय से लड़ने की शिक्षा देता है। बच्चों और नौजवानों को सवाल करना नहीं बल्कि मात्र आज्ञा पालन सिखाना संघ का उद्देश्य है।

इस प्रकार ही बुर्जुआ जनवाद और भारत में बुर्जुआ जनवाद के निर्माण की प्रक्रिया पर आधारित चार अध्यायों को भी पाठ्यक्रम से हटा दिया गया है। कक्षा में बुर्जुआ जनवाद के मूलभूत तत्वों पर आधारित अध्याय को हटा दिया गया है जिसमें जनवादी प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी, विवादों का निपटारा, एकता और समानता की बात की गयी थी। बुर्जुआ जनवाद आधारित अध्याय में कक्षा 8 की पुस्तक से "जनवाद की चुनौतियों" वाला अध्याय भी हटा दिया गया है जिसमें जाति, धर्म, रंगभेद, क्षेत्र आधारित असमानताओं की बात की गयी है।

कई और अध्याय जिनमें बुर्जुआ नज़रिए से ही सही, लेकिन नक्सलबाड़ी आन्दोलन, किसानों के आन्दोलन आदि की चर्चा थी उन्हें भी हटा दिया गया है। पूँजीवाद-साम्राज्यवाद के मौजूदा परजीवी व मरणासन्न दौर में प्रतिक्रियावादी पूँजीपति वर्ग को अपने क्रान्तिकारी दौर में पैदा हुए उसूलों की चर्चा से भी एलर्जी होना स्वाभाविक है और यदि फ़ासीवादी शासन हो तो यह प्रतिक्रियावाद ज़ाहिरा तौर पर अपने चरम पर पहुँच जाता है।

बुर्जुआ शिक्षा व्यवस्था का अपना एक वर्ग चरित्र होता है। स्कूल के बच्चों और कॉलेज व विश्वविद्यालय के छात्रों को शोषण-आधारित इस व्यवस्था की एक और ईंट बनाने के प्रयास में बुर्जुआ सत्ता शिक्षा का बख़ूबी इस्तेमाल करती है। हालाँकि अपनी आवश्यकताओं के आधार पर और औपचारिक जनवादी आवरण को बनाये रखने के लिए एक हद तक विज्ञान और तर्क आधारित शिक्षा और शोध इसकी भी ज़रूरत होती है। लेकिन जैसे-जैसे पूँजीवाद का संकट गहराता जा रहा है वैसे-वैसे पूँजीवादी व्यवस्था के लिए वैज्ञानिक सोच और तर्क का सीमित स्पेस भी नागवार होता जा रहा है और जो कुछ भी प्रगतिशील था उसे नष्ट करना इसकी आवश्यकता बन गया है। इसलिए पूँजी के गहराते संकट और पूँजीपति वर्ग के बढ़ते प्रतिक्रियावादी चरित्र के इस दौर में शिक्षा पर चौतरफ़ा हमले हो रहे हैं। तर्क, विज्ञान, जनवाद, न्यायबोध, संवेदना और सच्चाई के साथ खड़े होने की जो थोड़ी-बहुत शिक्षा बुर्जुआ व्यवस्था कम-से-कम औपचारिक तौर पर देती थी आज फ़ासीवाद के इस दौर में उसे भी छीनना बुर्जुआ सत्ता की ज़रूरत है।

इसलिए इतिहास के नाम पर भारत के किसी स्वर्णिम युग और राम राज्य की अस्पष्ट तस्वीर खींची जाती है, मिथकों को इतिहास बनाकर पेश किया जाता है और कपोल-कल्पनाओं को तथ्य बताया जाता है। उस स्वर्णिम युग में भारत के पास आज की तमाम तकनॉलोजी, विज्ञान, यातायात और संचार के सभी साधन थे। बताया जाता है कि उस दौर में स्टेम सेल, शल्य चिकित्सा, परमाणु विज्ञान आदि सभी कुछ था। एक ओर विज्ञान के स्तर पर हमने इतना विकास किया था वहीं समाज में पूर्ण सामंजस्य था। सभी लोग प्रसन्न और मंगलमय थे, समाज में समान मात्रा में सदाचार, नैतिकता और आदर्श मौजूद थे। फिर इस आदर्श व पूर्ण समाज को किसी बाहरी हमले (मुसलमान, ईसाई, कम्युनिस्ट आदि) ने नष्ट कर दिया। सारी सम्पदा की चोरी कर ली, सारी नैतिकता का ह्रास हो गया और सारे वैज्ञानिक शोध नष्ट कर दिये गये! इन बाहरियों के आने के बाद सारी समस्याओं की शुरुआत हो गयी, लोग अज्ञानी हो गये, शोषण और उत्पीड़न की शुरुआत हो गयी! कहने की ज़रूरत नहीं कि यह अनर्गल बकवास के अलावा और कुछ नहीं है।

हर सभ्यता-संस्कृति का अपना इतिहास होता है, उसका गौरवशाली पहलू भी होता है और उसका शोषक-उत्पीड़क पहलू भी होता है। इसमें कोई शक नहीं कि दर्शन, नाट्यशास्त्र, गणित, भाषा विज्ञान, खगोलशास्त्र से लेकिर विज्ञान तक की तमाम शाखाओं में हमारे यहाँ उल्लेखनीय काम हुआ था और भरत, पाणिनि, कणाद, कपिल, आर्यभट्ट, सुश्रुत, चरक आदि पर कोई भी गर्व कर सकता है और करना भी चाहिए। यह काम भी जनता की रचनात्मक ऊर्जा और उत्पादक गतिविधियों के बूते ही सम्भव था और

(पेज 16 पर जारी)

अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाकर सामूहिक हत्याएँ : अमेरिकी समाज की गम्भीर मनोरुग्णता का एक लक्षण

(पेज 9 से आगे)

भरने लगेगा। निचोड़ यह कि अमेरिकी समाज की आत्महन्ता मनोव्याधि के कारण ऐतिहासिक हैं और वर्ग संघर्ष की ऐतिहासिक गतिकी में ही इसका उपचार निहित है।

●

आज से 112 वर्ष पहले, 1910 में, मक्सिम गोर्की ने एक लम्बा निबन्ध लिखा था – 'व्यक्तित्व का विघटन'। उस निबन्ध में उन्होंने प्रभावशाली ढंग से यह दर्शाया था कि वर्ग समाज और श्रम-विभाजन के जन्म के साथ ही मनुष्य के सामाजिक समष्टिगत व्यक्तित्व के विघटन की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह पूँजीवाद के पतनशील दौर तक पहुँचते-पहुँचते अपने चरम पर जा पहुँची है और बुर्जुआ समाज संस्कृति एवं आत्मिक मूल्यों के धरातल पर कुछ भी स्वस्थ और सकारात्मक दे पाने की क्षमता तेज़ी से खोता जा रहा है। गोर्की ने पतनशीलता के ज़्यादातर उदाहरण अमेरिकी समाज और संस्कृति से ही दिये हैं। गोर्की के उस लेख के 112 वर्षों बाद अमेरिकी समाज अगर अन्दर से इतना खोखला और बीमार नज़र आ रहा है तो इसमें भला आश्चर्य की क्या बात है!

मक्सिम गोर्की के उक्त लेख के लिखे जाने से भी लगभग आधी सदी पहले मार्क्स ने यह स्पष्ट कर दिया था कि पूँजीवाद मज़दूर वर्ग को उनके द्वारा उत्पादित या सृजित वस्तु से अलग कर देता है (बेगाना बना देता है) और उसे आने-पाई पर आधारित सम्बन्धों में बँधने के लिए बाध्य कर देता है। इस प्रक्रिया में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से कट जाता है, सामाजिकता से कट जाता है और मानवीय मूल्यों से भी बेगाना हो जाता है। पूँजीवादी समाज का ज़ोर "उत्पादकता" पर होता है, यानी इन्सान का मोल इस बात से तय होता है कि वह पूँजीपति के लिए कितना मुनाफ़ा पैदा करता है। इस तरह पूँजीवाद विभेद और अलगाव अपनी स्वतंत्र आन्तरिक गति से पैदा करता है। बुर्जुआ समाज में शोषण के साथ-साथ नस्लवाद, रंगभेदवाद, पुरुषवर्चस्ववाद आदि उत्पीड़न के जितने भी रूप होते हैं वे आम लोगों के बीच बँटवारे और अलगाव को और अधिक बढ़ाने का काम करते हैं। बुर्जुआ समाज की ऐतिहासिक पतनशीलता के दौर में हमें इसके चरम विकृत रूप और परिणाम देखने को मिलते हैं। यौन हिंसा, नस्लवादी हिंसा, अवसाद, आत्महत्या आदि के साथ ही 'मास शूटिंग' जैसी घटनाओं को भी इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा और समझा जाना चाहिए।

●

इस पूरी प्रवृत्ति की सांगोपांग समझदारी के लिए इसे एक और कोण से भी देखा जाना चाहिए। आज का अमेरिकी बुर्जुआ समाज अवचेतन के स्तर पर एक सामूहिक अपराध-बोध का किसी हद तक शिकार है। वह जानता है कि हिरोशिमा और नागासाकी में दो लाख लोगों का नरसंहार फ़ासिज़्म की पराजय के लिए नहीं (वह तो हो चुकी थी) बल्कि अमेरिकी वैश्विक प्रभुत्व के लिए किया गया था। कोरिया, वियतनाम, कम्पूचिया से लेकर अफ़ग़ानिस्तान, इराक़, लीबिया, सीरिया तक – युद्ध से लौटे सैनिकों के ज़रिए यह बात समाज में पहुँचती रही है कि भीषण विनाशकारी युद्ध वास्तव में अमेरिकी साम्राज्यवादी प्रभुत्व के लिए लड़े जाते रहे हैं, न कि अमेरिकी राष्ट्र पर आये किसी "ख़तरे" से निपटने के लिए। आज का औसत जागरूक अमेरिकी नागरिक भी जानता है कि लातिन अमेरिकी देशों से लेकर ईरान, फिलिप्पींस आदि देशों तक सभी बर्बर तानाशाह वास्तव में अमेरिका की ही कठपुतली थे। सामूहिक अवचेतन में जड़ जमाये अमेरिकी बुर्जुआ नागरिक के इस अपराध-बोध को दबाने के लिए शासक वर्ग ज़्यादा से ज़्यादा आक्रामक, अन्धराष्ट्रवादी, नस्लवादी और तमाम क़िस्म के धुर-प्रतिक्रियावादी नारे देता है। विशेषकर विकल्पहीनता के कारण मध्यवर्गीय आबादी का एक बड़ा हिस्सा शासक वर्ग द्वारा दी गयी 'मिथ्याचेतना' को अपना शरण्य बनाता है और 'अमेरिकी कॉमन सेंस' के रूप में उसे अपना लेता है। लेकिन अवचेतन का अपराधबोध फिर भी बना रहता है। यही वह मानसिकता है जो एक ओर परग्रहीय दुष्ट शक्तियों को शिकस्त देकर ब्रह्माण्ड विजय करने और दूसरी ओर मनुष्यता के विनाश की फन्तासियों में मनोरंजन ढूँढ़ती है और दूसरी ओर गहन अवसाद, निरर्थकता बोध, निरर्थक हिंसा, रुग्ण ऐन्द्रिक विलास और आत्महत्या की इच्छा के भँवरों के बीच डूबती-उतराती रहती है। ऐसी ही विशेष मानसिक स्थिति के झोंक में कोई आदमी अगर बन्दूक़ लेकर निकल पड़ता है और किसी सुपर मार्केट या स्कूल में पहुँचकर तड़ातड़ निर्दोष अपरिचितों पर या बच्चों पर या काले लोगों पर गोलियों की बौछार कर देता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस प्रकार की घटनाओं के फ़ौरन बाद ही अमेरिकी उदार बुर्जुआ वर्ग बन्दूक़ नियंत्रण (गन कण्ट्रोल) के बारे में हल्ला मचाने लगता है। यह पूरी समस्या का असुधारणीय रूप से लिबरल समाधान है, या दूसरे शब्दों में, समाधान है ही नहीं। वजह यह कि बन्दूक़ हत्याएँ नहीं करती बल्कि रुग्णमानस लोग ऐसे हत्याकाण्ड करते हैं। सवाल यह है कि ऐसे रुग्णमानस लोग किस प्रकार के समाज में बनते हैं और क्यों बनते हैं? आक्रामक और बीमार क़िस्म के व्यक्तिवाद, अलगाव और विक्षिप्तता के शिकार लोग अमेरिकी समाज और कई पूँजीवादी समाजों में क्यों पैदा होते हैं? जनता के सशस्त्र होने के अधिकार का मौजूद होना अमेरिकी जनवादी क्रान्ति और उसके बाद के इतिहास के कारण पैदा हुई परिघटना थी जिसे पूँजीपति वर्ग ने बाद में तरह-तरह से नियंत्रित किया। लेकिन आज भी उसे पूरी तरह से नियंत्रित नहीं किया जा सका है। जनता को निशस्त्र रखना हर-हमेशा पूँजीपति वर्ग और उसकी राज्यसत्ता के लिए ज़रूरी होता है। इसलिए ऐसी घटनाओं पर हमेशा बुर्जुआ उदार शान्तिवादी बन्दूक़ नियंत्रण की बात करने लगते हैं। लेकिन जिन पूँजीवादी समाजों में नागरिकों के पास यह अधिकार नहीं है उन समाजों में भी बर्बर अपराधों और हत्याकाण्डों को अंजाम देने वाले व्यक्तित्व निर्मित होते रहते हैं। इसके कारणों की तलाश मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था और पूँजीवादी सभ्यता व संस्कृति में की जानी चाहिए न कि लोगों के शस्त्र रखने के अधिकार में। पूँजीवादी समाज में मौजूद बीमार मस्तिष्क मौजूद होंगे तो उनके लिए ऐसी बर्बरताओं को अंजाम देने के लिए बन्दूक़ की आवश्यकता नहीं होती है। अमेरिका आज भी विश्व पूँजीवाद का केन्द्र और शीर्ष है, हालाँकि आर्थिक तौर पर वह एक लम्बे ह्रास से गुज़र रहा है। लेकिन पूँजीवाद के इस स्वर्ग में पूँजीवादी सभ्यता और संस्कृति अपनी ही रुग्णता की सड़ाँध में डूबकर दम तोड़ रही है।

शिक्षा का भगवाकरण : पाठ्यपुस्तकों में बदलाव छात्रों को संघ का झोला ढोने वाले कारकून और दंगाई बनाने की योजना

(पेज 15 से आगे)

उसी की पैदावार था। लेकिन विज्ञान और शोध की जिस सीमा से वह काल बँधा था उसे तार्किक तरीक़े से समझे बिना मनगढ़न्त बातों से विश्व गुरू बनने का प्रयास सारी दुनिया के सामने बस हमारी मूर्खता का प्रदर्शन ही करेगा।

इतिहास का निर्माण आम जनता करती है। लेकिन जनता अपनी मनमर्ज़ी से जैसा चाहे वैसे इतिहास का निर्माण नहीं कर सकती है। वह मौजूद भौतिक परिस्थितियों के मातहत होती है और वह अपने युग की सीमाओं से बँधी होती है। वैदिक या प्राचीन काल के लोग अपने समय तक हासिल ज्ञान को ही आगे बढ़ा सकते थे। यह सम्भव नहीं है कि वह अपने समय के मौजूदा ज्ञान का अतिक्रमण कर आधुनिक तकनीक और यातायात का निर्माण कर लेते, या परमाणु बम बना लेते या मानव अंग प्रत्यारोपण कर लेते! विज्ञान के विकास की गति तीव्र और धीमी हो सकती है लेकिन कोई विज्ञान पूरी तरह से विलुप्त नहीं हो जाता। यह सारी कपोल कल्पनाएँ हैं जिन्हें संघ परिवार इतिहास का जामा पहनाकर हमारे बच्चों को मूर्ख बनाने का काम कर रहा है। संघ के स्वर्णिम भारत में जाति आधारित शोषण-उत्पीड़न नहीं होता था! जाति व्यवस्था होती है लेकिन सभी सामंजस्यपूर्ण तरीक़े से अपना-अपना काम करते हुए ख़ुश रहते थे! पंचम वर्ण मैला उठाकर, समाज से बाहर रहकर ख़ुश रहता था! उसे समानता, कला, साहित्य ज्ञान की कभी कोई लालसा नहीं थी और स्त्रियाँ भी घरों में क़ैद पति-परिवार की सेवा करते ख़ुश रहती थीं! उन्हें भी समाज में बराबरी या ज्ञान की कोई इच्छा नहीं थी! लेकिन फिर जाति उत्पीड़न की शुरुआत कैसे हो गयी इसका कोई जवाब संघ के ज्ञानियों के पास नहीं होता है। यह उत्पीड़न तो दिल्ली सल्तनत और मुग़ल काल के पहले से चला आ रहा है! स्त्रियों के साथ होने वाला भेद-भाव, उत्पीड़न भी उतना ही पुराना है! इन पर कोई बात नहीं होती क्योंकि संघ के स्वर्णिम भारत में ऐसा कुछ नहीं होता था!

जिस स्वर्णिम भारत की बात संघ करता है ऐसा कोई युग भारत में नहीं था। सभी जगहों पर शोषकों और शोषितों के बीच का संघर्ष इतिहास को एक काल से दूसरे में ले गया है। इतिहास की गति के यही नियम हैं। संघ परिवार इस संघर्ष के इतिहास पर पर्दा डालना चाहता है। उसे छुपाने के लिए राजा-रानियों का इतिहास गढ़ रहा है। सभी सदी में इस मेहनतकश आबादी ने ही अपने ख़ून-पसीने से महल-अटारी, बाग़, उद्यान, जहाज़, हथियार, कवच, सड़कें बनायी हैं और अन्न उपजाये हैं। इस इतिहास-निर्माता वर्ग से संघ उसका इतिहास छीनना चाहता है और उसके संघर्षों की गौरवशाली परम्परा से उसे वंचित रखना चाहता है।

इसलिए आज पाठ्क्रम के "औचित्यसाधन" के नाम पर उन सभी इतिहासकारों और रचनाकारों को हटाया जा रहा है जो किसी भी हद तक प्रगतिशील नज़रिए से या मेहनतकश जनता के नज़रिए से इतिहास-लेखन करते हैं या बच्चों में मानवीय संवेदना जगाते हैं। इसके अलावा आज़ादी के संघर्ष का झूठा इतिहास लिखा जा रहा है जिसमें संघ परिवार के हेडगेवार, गोलवलकर, सावरकर आदि को महान क्रान्तिकारी की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है। सभी जानते हैं कि ये सभी ब्रिटिश हुकूमत के तलवे चाटने वाले, क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी करने वाले और आज़ादी के किसी भी आन्दोलन में हिस्सा नहीं लेने वाले और ग़लती से भी जेल में डाले जाने पर माफ़ीनामा लिखकर बाहर आने वाले लोग थे।

हमें अपने बच्चों को झूठे इतिहास से बचाना होगा। पिछले कुछ सालों से व्हाट्सअप विश्वविद्यालय में चलाया जा रहा हिन्दुत्व पाठ्यक्रम आज आपके बच्चों के स्कूलों और विश्विद्यालयों में पहुँच गया है। यह बेहद ख़तरनाक होने जा रहा है। फ़ासीवादी विचारधारा और इसे संरक्षण देने वाली पूँजीवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ अपनी लड़ाई हमें तेज़ करनी होगी क्योंकि ऐसी पढ़ाई हमारे मासूम बच्चों को दंगाई और हैवान बनायेगी। हमें अपने बच्चों को बचाना होगा हमें सपनों को बचाना होगा। इन ख़तरनाक क़दमों को मज़दूर वर्ग को कम करके नहीं आँकना चाहिए। ये क़दम एक पूरी पीढ़ी के दिमाग़ों में ज़हर घोलने, उनका फ़ासीवादीकरण करने, उन्हें दिमाग़ी तौर पर ग़ुलाम बनाने और साथ ही मज़दूर वर्ग को वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की क्षमता से वंचित करने का काम करते हैं। जिस देश के मज़दूर और छात्र-युवा वैज्ञानिक और तार्किक चिन्तन की क़ाबिलियत खो बैठते हैं वे अपनी मुक्ति के मार्ग को भी नहीं पहचान पाते हैं और न ही वे मज़दूर आन्दोलन के मित्र बन पाते हैं। उल्टे वे मज़दूर आन्दोलन के शत्रु के तौर पर तैयार किये जाते हैं और शैक्षणिक, बौद्धिक व सांस्कृतिक संस्थाओं का फ़ासीवादीकरण इसमें एक अहम भूमिका निभाता है। ऐसे में इन संस्थानों में पढ़ने वाले छात्र-युवा न तो अपने शत्रुओं की सही पहचान कर पाते हैं और न ही अपने मित्रों की; नतीजतन, अक्सर वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों के दुष्प्रचार का शिकार बनकर पूँजीपतियों की कठपुतली बन बैठते हैं। यही कारण है कि जब भी फ़ासीवादी ताक़तें सत्ता में आती हैं तो वे शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र को ख़ास तौर पर निशाना बनाती हैं। मोदी सरकार भी ऐसा ही कर रही है।

मज़दूर वर्ग की पार्टी कैसी हो? (तीसरी क़िस्त)

मज़दूरों का आर्थिक संघर्ष और राजनीतिक प्रचार का सवाल

– सनी

देश के क्रान्तिकारियों के समक्ष मज़दूर आन्दोलन में मौजूद अर्थवादी भटकाव एक बड़ी चुनौती है। केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की संशोधनवादी ग़द्दारी के साथ ही कई तथाकथित "क्रान्तिकारी" भी अर्थवाद की बयार में बह चुके हैं। मज़दूरवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद तो दूसरी तरफ़ वामपन्थी दुस्साहसवाद की ग़ैर-क्रान्तिकारी धाराएँ मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी राजनीति को स्थापित नहीं होने देती हैं। इस लेखमाला की पिछली कड़ी में हमने मज़दूर वर्ग की पार्टी के राजनीतिक प्रचार के महत्व पर बात रखी थी। हालाँकि इसका यह मतलब नहीं होता कि मज़दूर वर्ग की पार्टी आर्थिक माँगों को नहीं उठाती है। मज़दूर वर्ग की पार्टी मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों में भी भागीदारी करती है क्योंकि यह आर्थिक संघर्ष श्रम और पूँजी के अन्तरविरोध की ही अभिव्यक्ति होता है और इसे नेतृत्व देकर ही कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी शक्तियाँ इस अन्तरविरोध को राजनीतिक अभिव्यक्ति दे सकती हैं, यानी उसे पूँजीपति वर्ग और सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक अन्तरविरोध का स्वरूप दे सकती हैं। दूसरे शब्दों में, केवल इसी के ज़रिए समाजवाद के आदर्श और उसूलों को, यानी समाजवादी राजनीतिक चेतना को मज़दूर आन्दोलन में प्रविष्ट कराया जा सकता है। कम्युनिस्ट इस अर्थवादी तर्क का विरोध करते हैं कि आर्थिक संघर्ष की प्रक्रिया में मज़दूर ख़ुद-ब-ख़ुद, स्वत:स्फूर्त रूप से उन्नत राजनीतिक चेतना अर्जित कर लेते हैं। लेख की इस कड़ी में हम आर्थिक संघर्ष पर पार्टी का रुख़, ट्रेड यूनियन राजनीति और कम्युनिस्ट राजनीति का फ़र्क़ तथा अतिवामपन्थी भटकाव और ट्रेडयूनियनवादी राजनीति के सम्बन्धों पर संक्षिप्त में बात रखेंगे।

कम्युनिस्ट पार्टी अपने प्रचार में मज़दूरों के आर्थिक संघर्षों तक ही ख़ुद को सीमित नहीं रखती है बल्कि मज़दूरों को एक राजनीतिक वर्ग के रूप में जागृत, गोलबन्द और संगठित कर उन्हें उनके ऐतिहासिक लक्ष्य से परिचित भी कराती है। लेनिन कहते हैं कि : **"मज़दूरों में राजनीतिक वर्ग-चेतना बाहर से ही लायी जा सकती है, यानी केवल आर्थिक संघर्ष के बाहर से, मज़दूरों और मालिकों के सम्बन्धों के क्षेत्र के बाहर से। वह जिस एकमात्र क्षेत्र से आ सकती है, वह राज्यसत्ता तथा सरकार के साथ सभी वर्गों तथा संस्तरों के सम्बन्धों का क्षेत्र है, वह सभी वर्गों के आपसी सम्बन्धों का क्षेत्र है।"**

"...आम मज़दूरों द्वारा अपने आन्दोलन की प्रक्रिया के दौरान विकसित स्वतंत्र विचारधारा का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता, इसलिए केवल ये रास्ते ही रह जाते हैं : या तो बुर्जुआ विचारधारा को चुना जाये या समाजवादी विचारधारा को। बीच का कोई रास्ता नहीं है (क्योंकि मानव-जाति ने कोई "तीसरी" विचारधारा पैदा नहीं की है, और इसके अलावा जो समाज वर्ग विरोधों के कारण बँटा हुआ है, उसमें कोई ग़ैर-वर्गीय या वर्गोपरि विचारधारा कभी नहीं हो सकती)। अतएव समाजवादी विचारधारा के महत्व को किसी भी तरह कम करके आँकने, उससे ज़रा भी मुँह मोड़ने का मतलब बुर्जुआ विचारधारा को मज़बूत करना होता है।"

लेनिन के द्वारा पेश इस उक्ति का विरोध करते हुए रूसी अर्थवादी अख़बार 'रोबोचेये द्येलो' अपने **स्वत:स्फूर्ततावादी** विचलन के चलते बताता है कि मज़दूर वर्ग वेतन भत्ते के लिए लड़ते हुए राजनीतिक चेतना ख़ुद-ब-ख़ुद पैदा कर लेता है। कम्युनिस्ट राजनीति को ट्रेडयूनियनवादी राजनीति में अपचयित करते हुए अर्थवादी इस स्वत:स्फूर्तता के सिद्धान्त को "मंज़िलों का सिद्धान्त" और "प्रक्रिया के रूप में कार्यनीति" के रूप में व्याख्यायित करते हैं। "मंज़िलों का सिद्धान्त" के अनुसार कम्युनिस्टों को मज़दूर वर्ग की चेतना के स्तर के अनुरूप ही लड़ना चाहिए और उनके बीच राजनीतिक प्रचार नहीं करना चाहिए। "प्रक्रिया के रूप में कार्यनीति" के अनुसार जनता के बीच काम करने के लिए कोई पूर्व निर्धारित योजना तैयार करना ग़लत होता है और यह रणनीति आन्दोलनों में ही विकसित होती है। अर्थवाद के "मंज़िलों का सिद्धान्त" और "प्रक्रिया के रूप में कार्यनीति" मार्क्सवाद-विरोधी हैं। यह कम्युनिस्ट पार्टी को मज़दूर वर्ग का हिरावल की जगह पुछल्ला बनाने की ही पेशकश है। कम्युनिस्ट पार्टी स्वयं मज़दूर वर्ग के उन्नततम तत्वों का ही दस्ता है और उसका काम ही मज़दूर वर्ग के व्यापक जनसमुदायों को एक सही विचारधारा व राजनीति के ज़रिए नेतृत्व देना है। स्वत:स्फूर्ततावाद का प्रस्ताव रखने वाला व्यक्ति चाहे या न चाहे, इरादतन या ग़ैर-इरादतन, कम्युनिस्ट राजनीति को कमज़ोर करता है और मज़दूर वर्ग पर बुर्जुआ वर्ग की विचारधारा को हावी होने देने का अवसर प्रदान करता है। अर्थवादी विचलन का हमला मार्क्सवाद-लेनिनवाद पर होता है। इतिहास में अर्थवाद की हर प्रजाति का विचारधारात्मक निशाना मार्क्सवाद पर ही रहा है। लेनिन के दौर में 'आलोचना की स्वतंत्रता' की आड़ में मार्क्सवाद पर हमला किया गया था। आज भी मार्क्सवाद में 'इज़ाफ़े' और '21वीं सदी के समाजवाद' की तमाम अवधारणाओं का निशाना अक्सर लेनिनवादी पार्टी, राज्य तथा क्रान्ति के उसूल और सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का उसूल हुआ करते हैं। लेनिन ने इन प्रवृत्तियों की आलोचना की तथा साथ ही इनकी राजनीतिक और सांगठनिक अभिव्यक्तियों पर भी चोट की। राजनीतिक तौर पर यह ट्रेडयूनियनवादी राजनीति के रूप में अभिव्यक्ति पाती है। यह मज़दूर आन्दोलन और समाजवाद के बीच दरार पैदा कर देती है। जबकि "सामाजिक जनवाद *(पढ़ें 'कम्युनिज़्म' – लेखक)* मज़दूर आन्दोलन और समाजवाद का सहमेल है। उसका काम मज़दूर आन्दोलन की हर अलग-अलग अवस्था में निष्क्रिय रूप से इसकी सेवा करना नहीं, बल्कि पूरे आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करना, इस आन्दोलन को उसका अन्तिम लक्ष्य तथा उसके राजनीतिक कार्यभार बताना तथा इसकी राजनीतिक और विचारधारात्मक स्वतंत्रता की रक्षा करना है। सामाजिक जनवाद *(कम्युनिज़्म)* से कटकर मज़दूर आन्दोलन नगण्य और अनिवार्य रूप से पूँजीवादी बन जाता है। लेकिन आर्थिक *(अर्थवादी – लेखक)* संघर्ष करने से मज़दूर वर्ग अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खो देता है...हमारा मुख्य और मूल काम मज़दूर वर्ग के राजनीतिक विकास और राजनीतिक संगठन के कार्य में सहायता पहुँचाना है। इस काम को जो लोग पीछे ढकेल देते हैं, जो तमाम विशेष कामों और संघर्ष के विशिष्ट तरीक़ों को इस मुख्य काम के मातहत करने से इन्कार करते हैं, **वे ग़लत रास्ते पर चल रहे हैं और आन्दोलन को भारी नुक़सान पहुँचा रहे हैं।"(लेनिन)**

दूसरी बात यह कि इसका मतलब यह नहीं होता है कि कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूरों के जीवन के रोज़मर्रा के ठोस प्रश्नों को नहीं उठाती है। निश्चित ही कम्युनिस्ट पार्टी यह करेगी। कम्युनिस्ट मज़दूरों के जीवन के ठोस प्रश्नों को उठाते हैं क्योंकि केवल इसी के ज़रिए वह मज़दूर वर्ग को राजनीतिक रूप से सचेत बना सकती है, रोज़मर्रा के मसलों पर संगठन के ज़रिए इन मसलों के पूँजीवादी व्यवस्था से रिश्ते को मज़दूरों के बीच स्पष्ट कर सकती है, उन्हें यह समझा सकती है कि उनकी जीवन व कार्यस्थितियों की समस्याएँ आकस्मिक नहीं हैं, बल्कि पूँजीवाद द्वारा जनित हैं, उनका दुश्मन एक मालिक नहीं बल्कि मालिकों का समूचा वर्ग और उसकी राज्यसत्ता है। और इसी के ज़रिए वह मज़दूर वर्ग को एक राजनीतिक वर्ग के रूप में यानी सर्वहारा वर्ग के रूप में संगठित कर सकती है और उन्हें राजनीतिक चेतना के उच्चतम स्तर, यानी *पार्टी राजनीतिक चेतना* तक विकसित कर सकती है। इसीलिए लेनिन बताते हैं : "कम्युनिस्टों को मज़दूरों के सभी प्रारम्भिक संघर्षों और आन्दोलनों में भाग लेना चाहिए तथा काम के घण्टों, काम की परिस्थितियों, मज़दूरी आदि को लेकर उनके और पूँजीपतियों के बीच होने वाले सभी टकरावों में मज़दूरों के हितों की हिफ़ाज़त करनी चाहिए। कम्युनिस्टों को मज़दूर वर्ग के जीवन के ठोस प्रश्नों पर भी ध्यान देना चाहिए। उन्हें इन प्रश्नों की सही समझदारी हासिल करने में मज़दूरों की सहायता करनी चाहिए। उन्हें मज़दूरों का ध्यान सर्वाधिक स्पष्ट अन्यायों की ओर आकर्षित करना चाहिए तथा अपनी माँगों को व्यावहारिक तथा सटीक रूप से सूत्रबद्ध करने में उनकी सहायता करनी चाहिए। इस तरह वे मज़दूर वर्ग के भीतर एकजुटता की स्पिरिट और देश के सभी मज़दूरों के भीतर एक एकीकृत मज़दूर वर्ग के रूप में, जो कि सर्वहारा की विश्व सेना का एक हिस्सा है, सामुदायिक हितों की चेतना जागृत कर पायेंगे। सिर्फ़ इस प्रकार के रोज़मर्रा के प्रारम्भिक कर्तव्यों की पूर्ति करके तथा सर्वहारा के सभी संघर्षों में भाग लेकर ही कम्युनिस्ट पार्टी एक सच्ची कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में विकसित हो सकती है। सिर्फ़ इस प्रकार के तरीक़ों को अपनाकर ही वह घिसे-पिटे, तथाकथित शुद्ध समाजवादी प्रचार करने वाले, सिर्फ़ नये सदस्य भर्ती करने वाले तथा सुधारों और सभी संसदीय सम्भावनाओं का इस्तेमाल कर पाने की सम्भावनाओं या असम्भावनाओं की बातें करते रहने वाले प्रचारकों से अपने को अलग कर सकेगी। शोषकों के विरुद्ध चलने वाले शोषितों के रोज़मर्रा के संघर्षों और विवादों में पार्टी-सदस्यों का आत्मत्यागपूर्ण और चेतन सहयोग न केवल सर्वहारा अधिनायकत्व की विजय के लिए बल्कि उससे भी अधिक, इस अधिनायकत्व को क़ायम रखने के लिए नितान्त आवश्यक है। पूँजीवाद के हमलों के ख़िलाफ़ छोटे-छोटे संघर्षों को करने के संघर्ष में सर्वहारा वर्ग का सुव्यवस्थित नेतृत्व कर पाने की क्षमता प्राप्त करते हुए मेहनतकश जनसमुदाय का हिरावल दस्ता बन सकेगी।"

कुल मिलाकर यह कि कम्युनिस्ट आन्दोलन सुधारों के लिए लड़ाई को **"समाजवाद के क्रान्तिकारी संघर्ष के अधीन उसी तरह रखता है, जैसे कोई एक भाग अपने पूर्ण के अधीन होता है।"** यही वह समझदारी है जो एक तरफ़ हमें अर्थवादी भटकाव से भी बचाती है तो दूसरी तरफ़ "वामपन्थी" भटकाव से भी बचाती है, जो वास्तविक स्थितियों के बारे में वस्तुगत समझदारी रखने की बजाय, शेख़चिल्ली के समान उसके काफ़ी आगे उछलते-कूदते चलती है। इन दोनों ही छोरों का जन्म स्वत:स्फूर्तवाद के आगे नतमस्तक होने के चलते होता है। "अर्थवादी और दुस्साहसवादी स्वत:स्फूर्तवाद के अलग छोरों के आगे नतमस्तक होते हैं। अर्थवादी "शुद्ध और साधारण मज़दूर आन्दोलन" के आगे नतमस्तक होते हैं तो दुस्साहसवादी उन बुद्धिजीवियों के आवेशपूर्ण रोष के आगे नतमस्तक होते हैं जो क्रान्तिकारी आन्दोलन और मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को एकीकृत करने की क़ाबिलियत या परिस्थिति में नहीं होते।" (लेनिन)

अतिवामपन्थी राजनीति आर्थिक माँगों के लिए लड़ने को और ट्रेडयूनियन बनाकर संघर्ष करने को ही संशोधनवाद क़रार देने तक पहुँच जाती है। हमें इस ग़लत समझदारी का भी पर्दाफ़ाश करना चाहिए। लेनिन ने इस विचलन की आलोचना करते हुए कहा कि "मज़दूरों द्वारा काम करने की परिस्थितियों में मामूली सुधारों की माँग को लेकर चलाये जाने वाले आन्दोलनों के प्रति तिरस्कार का रुख़ अपनाना या कम्युनिस्ट कार्यक्रम और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रान्तिकारी संघर्ष की आवश्यकता के नाम पर उनके प्रति निष्क्रियता का रुख़ अपनाना कम्युनिस्टों के लिए भारी भूल होगी। मज़दूर अपनी जिन माँगों को लेकर पूँजीपतियों से लड़ने के लिए तैयार और रज़ामन्द हों, वे चाहे कितनी भी छोटी या मामूली क्यों न हों, कम्युनिस्टों को संघर्ष में शामिल न होने के लिए उन माँगों के छोटी होने का बहाना नहीं बनाना चाहिए। हमारी आन्दोलनात्मक गतिविधियों के ख़िलाफ़ इस तरह के इलज़ाम की गुंजाइश नहीं रहनी चाहिए कि हम मज़दूरों को मूर्खतापूर्ण हड़तालों या अन्य नासमझी-भरी कार्रवाइयों के लिए उभाड़ते और उकसाते हैं। संघर्षरत जनता के बीच कम्युनिस्टों को यह प्रतिष्ठा अर्जित करने की चेष्टा करनी चाहिए कि वे हिम्मत वाले और संघर्षों में कारगर भूमिका निभाने वाले लोग हैं।"

लेनिन के अवदानों और रूसी क्रान्ति की रोशनी में हम भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन में अर्थवादी और अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी प्रवृत्तियों के उद्भव और विकास को समझ सकते हैं। 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर ही एक मज़दूर अख़बार के चरित्र पर चली बहस में (सर्वहारा वर्ग का हिरावल दस्ता बनने की बजाय उसका पिछवाड़ा निहारने की ज़िद, 'बिगुल', अगस्त 1999)

(पेज 14 पर जारी)

‘पुष्पा’, ‘केजीएफ़’… उन्हें बंजर सपने बेचो!

– सुहास

पिछले कुछ वर्षों में ऐसी फ़िल्मों की एक बाढ़-सी आयी है जिसमें नायक किसी मज़दूर-वर्गीय पृष्ठभूमि से आता है और फिर सभी प्रतिकूल परिस्थितियों का मुक़ाबला करते हुए और उन पर विजय पाते हुए वह कोई बड़ा डॉन बन जाता है। इनमें से अधिकांश फ़िल्में दक्षिण भारतीय भाषाओं में बनी हैं और बाद में हिन्दी में डब की गयी हैं। लेकिन इन डब फ़िल्मों को उत्तर भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में ही काफ़ी सफलता मिली है। इन फ़िल्मों को भारी संख्या में देखने वालों में एक अच्छी-ख़ासी आबादी मेहनतकश वर्गों के लोग और विशेषकर मज़दूर हैं। हम मज़दूर अपने इलाक़ों में युवा मज़दूरों व आम तौर पर नौजवानों को ‘पुष्पा’ फ़िल्म के नायक की शैली के नृत्य की नक़ल करते, उसकी अदाओं की नक़ल करते और उसके डायलॉग मारते देख सकते हैं। इसी प्रकार ‘केजीएफ़’ फ़िल्म के नायक के संवादों और शैली की नक़ल करते हुए भी पर्याप्त युवा मज़दूर व नौजवान मिल जाते हैं। इन फ़िल्मों और उनके गीतों (अक्सर फूहड़ और अश्लील गीतों) की लोकप्रियता सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर रही है। **इसकी क्या वजह है? इन फ़िल्मों में ऐसा क्या है कि हमारे बीच तमाम मज़दूर इसके दीवाने हुए जा रहे हैं?**

इसकी **पहली वजह** यह है कि इन फ़िल्मों में हीरो किसी मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से आता है। वह ग़रीबी से संघर्ष करता है, हर प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों से अकेले अपनी व्यक्तिगत बहादुरी और बिन्दासपन के बूते जीत हासिल करता है और कालान्तर में ख़ुद अपनी शेरदिली और दुस्साहसिक कारनामों के ज़रिए एक अपराधी बन जाता है और इसी अपराध की बुनियाद पर वह अन्ततः एक बड़ा कारोबारी बन जाता है, जिसने ख़ुद बहुत-से मज़दूरों को काम पर रखा होता है। चूँकि यह हीरो मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से आता है, बचपन में ही बहुत-से ज़ुल्म झेलता है, पुलिस की मार झेलता है, उसकी माँ या परिवार वालों को दबंग गुण्डे, अपराधी और पूँजीपति सताते हैं, और हर क़दम पर उसे ज़िल्लत का सामना करना पड़ता है, इसलिए आज के समाज के आम मज़दूर युवा कहीं न कहीं अपनी छाया को उसमें देखते हैं। कारण यह कि वास्तव में एक ग़रीब मज़दूरवर्गीय युवा को अक्सर ही वास्तव में इस प्रकार की स्थितियों का सामना करना पड़ता है। यदि वह ख़ुद मज़दूरी कर रहा होता है, तो आये दिन उसे मालिकों-सेठों के हाथों मारपीट, गाली-गलौच, अपमान, उत्पीड़न और दमन का सामना करना पड़ता है। अगर वह दलित पृष्ठभूमि से आता है तो यह शोषण, दमन और उत्पीड़न और भी भयंकर रूप धारण करता है। ‘पुष्पा’ फ़िल्म का नायक भी किसी तथाकथित “निचली” जाति से आता है, जिसकी माँ के साथ किसी ऊँची जाति का धनी आदमी रिश्ते बनाता है और बाद में उसे पत्नी के रूप में नहीं अपनाता है। पुष्पा को बचपन में ही जातिगत अपमान, ‘नाजायज़’ होने के तानों और वर्गीय शोषण-उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है। लेकिन उसके बावजूद पुष्पा इस ऊँची जाति के आदमी के प्रति पुत्र समान भावनाएँ और आकांक्षाएँ रखता है और उसकी माँ भी उसे अपना पति देव मानती है! यह स्वयं एक बेहद ही घिनौनी और अपमानजनक प्रतिक्रियावादी पिछड़ी सोच है। एक दूसरे अर्थ में ‘केजीएफ़’ के नायक को भी ग़रीबी और दमन-उत्पीड़न के बर्बरतम रूपों का सामना करना पड़ता है। इन फ़िल्मों में इस अन्याय और अपमान का जो चित्रण होता है वह निश्चित ही मज़दूरों के भीतर की नफ़रत और ग़ुस्से को उभारता है क्योंकि उसमें वह पूँजीवादी वर्ग समाज में पूँजीपति वर्ग और उसकी पुलिस व नौकरशाही द्वारा अपने साथ किये जाने वाले बर्ताव की छवि देखते हैं।

दूसरी बात : इस नफ़रत और ग़ुस्से के परिणामस्वरूप इन फ़िल्मों का नायक यह प्रश्न नहीं उठाता है कि मौजूदा समाज में जो मज़दूर समूची धन-सम्पदा को पैदा करते हैं, हरेक चीज़ बनाते हैं, हरेक सेवा प्रदान करते हैं और समूचे देश की अर्थव्यवस्था की बुनियाद हैं, उनके साथ यह सुलूक क्यों होता है? वह यह सवाल नहीं उठाता है कि सारे कल-कारख़ानों, खानों-खदानों और खेतों-खलिहानों पर मुट्ठीभर परजीवी धन्नासेठों का क़ब्ज़ा क्यों है जो ख़ुद कुछ भी नहीं करते और जोंकों के समान मज़दूर वर्ग के शरीर पर चिपके हुए उसका ख़ून पी रहे हैं? वह मालिकों, सेठों, व्यापारियों, अपराधियों, पुलिस व सरकारी तंत्र के अहलकारों द्वारा शोषण, उत्पीड़न, दमन और अपमान का मुक़ाबला करने के लिए अपने जैसे हज़ारों-लाखों मज़दूरों को एकजुट करने के बारे में नहीं सोचता है, जो उसी के समान इस अन्याय और अपमान का सामना कर रहे होते हैं। वह कभी समूची व्यवस्था पर कोई प्रश्न उठाता नहीं दिखता है और न ही यह सवाल पूछता है कि क्या कोई दूसरी व्यवस्था सम्भव है? क्या किसी अन्य प्रकार का समाज सम्भव है? क्या कोई ऐसा समाज नहीं बनाया जा सकता जिसमें जो मज़दूर उत्पादन करते हैं, वे ही उत्पादन के साधन के मालिक हों? क्या कोई ऐसा समाज नहीं बनाया जा सकता जिसमें कि मेहनतकश वर्ग अपनी राजसत्ता क़ायम करें और समूचे उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे को अपनी सामूहिक मेधा और शक्ति के बूते चलायें? नहीं! आपका पुष्पा या रॉकी भाई यह सवाल कभी नहीं पूछता! तो फिर पुष्पा या रॉकी भाई क्या करता है? ऐसा प्रश्न पूछना तो दूर, वह पूँजीवादी समाज के शोषण और अन्याय के विरुद्ध आम तौर पर ही कोई सवाल नहीं उठाता है, बल्कि वह ख़ुद एक पूँजीपति बन जाना चाहता है, अपनी ‘डेयरिंग’ (शेरदिली) के बल पर! वह अपने साथी मज़दूरों के साथ कोई एकजुटता क़ायम कर इस अन्याय और शोषण को चुनौती देने के बारे में भी नहीं सोचता है, बल्कि ख़ुद ऐसी स्थिति में पहुँच जाना चाहता है, जहाँ स्वयं वह शोषक बन चुका हो! यह पूँजीवादी व्यक्तिवाद को मज़दूर वर्ग में बोने के लिए किया जाता है। **वर्गीय सामूहिक प्रतिरोध और संघर्ष नहीं, पूँजीपति बनने के लिए नायकवादी और व्यक्तिवादी प्रतिरोध!**

तो नायक ख़ुद एक पूँजीपति बनना चाहता है। उसे पता होता है कि हर पूँजीपति के धन के साम्राज्य की बुनियाद में अपराध, क़त्ल, धोखा और भ्रष्टाचार होता है। इसलिए वह अपराध की दुनिया से शुरुआत करता है। जब वह दर्जनों क़त्ल करके, हर प्रकार का दुराचार करके अपराध की दुनिया पर अपनी हुकूमत क़ायम कर लेता है, तब वह अपनी अपराध की दुनिया को कारोबार में तब्दील करता है। पहले यह कारोबार ग़ैर-क़ानूनी होता है। बाद में, वह अपने कारोबार को कारोबार की बारीकियाँ सीखकर क़ानूनी स्वरूप देने की तैयारियाँ करता है। इसके लिए भी उसे कई नये अपराध और हत्याएँ करनी पड़ती हैं। अन्त में, वह ख़ुद एक बड़ा पूँजीपति बन जाता है जो ख़ुद सैंकड़ों मज़दूरों और मेहनतकशों का शोषण कर रहा होता है। हाँ, वह सीधे किसी मज़दूर का अपमान नहीं करता, उसका जातिगत अपमान नहीं करता, रॉबिन हुड की तरह कई मज़दूरों और ग़रीबों की भलाई भी करता रहता है और उसके मज़दूर अपने मालिक से नफ़रत नहीं करते बल्कि प्यार करते हैं! क्योंकि वह उनके बीच से ही उठा होता है। वे भूल जाते हैं कि बेशक वह उनके बीच से उठा हो सकता है, लेकिन अब वह उनका मालिक ही है और अब वह उनकी मेहनत को लूटने का ही काम करता है और यह उनकी मेहनत ही है जो उसके कारोबारी और अपराधी साम्राज्य की बुनियाद में है। इन सबके बावजूद वह उससे प्यार करते हैं, उससे डरते हैं, उसका सम्मान करते हैं और उस पर गर्व तक करते हैं, क्योंकि वह उनके आहत अस्मितागत अहं की थोड़ी मालिश करता है। उन्हें इस बात में ही राहत और शान्ति मिलती है कि मज़दूर पृष्ठभूमि और तथाकथित निचली जाति की पृष्ठभूमि से उठने के बावजूद वह ख़ुद दुनिया का राजा बन गया और उसने अन्य पूँजीपतियों को मज़ा चखा दिया। यह दीगर बात है कि अब वह ख़ुद एक पूँजीपति के तौर पर उनका शोषण ही करता है! **लुब्बेलुआब यह कि मज़दूर की वर्गीय चेतना की जगह ‘मज़दूर अस्मिता’ ले लेती है जिस पर किसी मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से उठे दबंग के ज़रिए गर्व करना सिखाया जाता है।**

ऐसी फ़िल्मों में हीरोइनों का जो चित्रण होता है, उसमें भी हम शासक वर्गों की औरतों के प्रति घटिया सोच को देख सकते हैं, जिससे हम मज़दूर भी अक्सर प्रभावित होते हैं। हीरो-हीरोइन के रिश्ते में हीरो की भूमिका हमेशा स्वामी, मालिक जैसी होती है। हीरोइन अगर घमण्डी होती है, तो फ़िल्म का एक ठीक-ठाक हिस्सा हीरो द्वारा हीरोइन के घमण्ड को तोड़ने और उसे अपने पौरुष के समक्ष समर्पण करा देने में ख़र्च किया जाता है। हीरोइन भी अन्त में ख़ुशी-ख़ुशी हीरो के स्वामित्व को स्वीकार कर लेती है। अक्सर उसके आत्मसम्मान की भावना विलेन द्वारा किसी बलात्कार के प्रयास और फिर हीरो द्वारा उसे बचा लिये जाने के प्रकरण से समाप्त होती है, जिसके बाद वह अपने सारे आत्मसम्मान को तेल लेने भेज देती है और हीरो के चरणों में समर्पित हो जाती है। नाचने और हीरो को लुभाने और ख़ुश करने के अलावा इसके बाद हीरोइन के जीवन में कुछ भी नहीं बचता है। मज़दूर वर्ग के भीतर स्त्रियों को पूँजीवादी शोषण की मशीनरी में घसीट लिये जाने के कारण जितनी आज़ादी और जनवाद मिलता है, ऐसी फ़िल्मों में उसे भी छीन लिया जाता है। एक अन्य बात जिस पर ग़ौर किया जा सकता है वह यह है कि हमारा मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि से उठा नायक अक्सर एक ऐसी नायिका को अपने “पौरुष” के बल पर जीतता है, जो स्वयं मज़दूर वर्ग से नहीं आती है, बल्कि मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय पृष्ठभूमि से आती है। नतीजतन, वर्ग अन्तरविरोध का एक मूर्खतापूर्ण समाधान पेश करने (यानी एक मज़दूरवर्गीय पृष्ठभूमि के नायक द्वारा पौरुष के बल पर एक मध्यवर्गीय या उच्चवर्गीय औरत को “जीत” लिया जाना!) के लिए भी स्त्री के शरीर को युद्ध का मैदान बनाया जाता है। जबकि सर्वहारा वर्ग की सोच यह होती है कि वह हर सामाजिक तौर पर दमित व उत्पीड़ित समुदाय की मुक्ति का समर्थन करता है और उसकी मुक्ति की लड़ाई को एक सही वर्गीय दिशा देने का प्रयास करता है।

स्त्रियों के प्रति ऐसी सोच और आम तौर पर लैंगिक व जेण्डरगत सम्बन्धों के बारे में ऐसी घटिया और घिनौनी सोच पर क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग केवल थूक ही सकता है। इस प्रकार की सोच उन प्रतिक्रियावादी और शोषणकारी

(पेज 19 पर जारी)

जनता के सच्चे लेखक प्रेमचन्द के जन्मदिवस (31 जुलाई) के अवसर पर

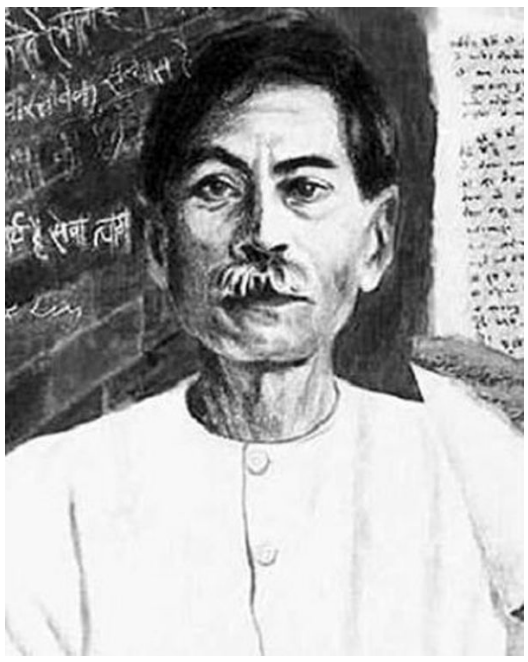

जब तक सम्पत्ति मानव-समाज के संगठन का आधार है, संसार में अन्तरराष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। राष्ट्रों-राष्ट्रों की, भाई-भाई की, स्त्री-पुरुष की लड़ाई का कारण यही सम्पत्ति है। संसार में जितना अन्याय और अनाचार है, जितना द्वेष और मालिन्य है, जितनी मूर्खता और अज्ञानता है, उसका मूल रहस्य यही विष की गाँठ है। जब तक सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार रहेगा, तब तक मानव-समाज का उद्धार नहीं हो सकता। मज़दूरों के काम का समय घटाइये, बेकारों को गुज़ारा दीजिए, ज़मीन्दारों और पूँजीपतियों के अधिकारों को घटाइए, मज़दूरों-किसानों के स्वत्वों को बढ़ाइए, सिक्के का मूल्य घटाइए, इस तरह के चाहे जितने सुधार आप करें, लेकिन यह जीर्ण दीवार इस तरह के टीपटाप से नहीं खड़ी रह सकती। इसे नये सिरे से गिराकर उठाना होगा।—

— संसार आदिकाल से लक्ष्मी की पूजा करता चला आता है।— लेकिन संसार का जितना अकल्याण लक्ष्मी ने किया है, उतना शैतान ने नहीं किया। यह देवी नहीं डायन है।

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम तक भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय, इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन नहीं होगा, जब तक सम्पत्ति व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

– प्रेमचन्द ('राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता' लेख से)

'पुष्पा', 'केजीएफ़'... उन्हें बंजर सपने बेचो!

(पेज 18 से आगे)

शासक वर्गों की ही हो सकती है, जिनका हित शोषण समेत सामाजिक उत्पीड़न के तमाम रूपों को बनाये रखने में है, मसलन औरतों का उत्पीड़न, दलितों का उत्पीड़न, आदि। क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग स्त्रियों और पुरुषों की सच्ची समानता में यक़ीन रखता है और जानता है कि दुनिया में कोई बड़ा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन औरतों की आबादी की भागीदारी और उनके जुझारूपन के बिना नहीं हुआ है। वह वर्गयुद्ध में कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने में और बराबरी में यक़ीन करता है।

लेकिन 'पुष्पा' और 'केजीएफ़' जैसी फ़िल्में मज़दूर वर्ग के दिमाग़ में भी अपनी सड़ी-गली विचारधाराओं को डालता है। निश्चित तौर पर, हम पर इसका प्रभाव पड़ता है और इसका फ़ायदा अन्तत: मालिक वर्ग को ही होता है क्योंकि ऐसी सड़ी-गली विचारधाराओं का असर हमारे संघर्ष को भीतर से कमज़ोर बनाता है। ये फ़िल्में शुरू से अन्त तक ऐसी सड़ी-गली विचारधाराओं और प्रतिक्रियावादी मूल्यों से लबालब भरी होती हैं और इनके सभी पहलुओं की आलोचना पेश करना 'मज़दूर बिगुल' के पृष्ठों पर सम्भव नहीं है। लेकिन इन पर हमें विस्तृत चर्चा रखनी चाहिए और समझना चाहिए कि पूँजीपति वर्ग की फ़िल्में और आम तौर पर उनकी कला हमें क्या सिखा रही है।

कला का काम हमारी चाहतों, आकांक्षाओं और उम्मीदों का चित्रण करना नहीं है, मज़दूर साथियो! नहीं! कला का काम होता है यह सिखाना कि हम क्या चाहें, किन चीज़ों की आकांक्षा करें, किन चीज़ों की उम्मीद करें। हमें बताया जाता है कि तुम पुष्पा या रॉकी भाई जैसा बनने की चाहत, आकांक्षा और उम्मीद पालो! हमें पुष्पा और रॉकी भाई की काल्पनिक कहानी ऐसे सुनायी जाती है कि हम उसमें अपने अक्स को तलाशते हैं। ढाई-तीन घण्टे हम अपने जीवन की कड़वी सच्चाइयों से दूर पलायन कर जाते हैं और पुष्पा और रॉकी भाई के रूप में पर्दे पर वह जीवन जी रहे होते हैं, जो वास्तव में हम कभी जी ही नहीं सकते। हमें वे सपने दिये जाते हैं, जो बंजर हैं। फ़िल्म में पुष्पा ज़रूर बोल सकता है कि 'अपुन झुकेगा नहीं' लेकिन हम मज़दूर जानते हैं कि अकेले हमारी कोई ताक़त नहीं है और अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में रोटी की ख़ातिर हमें क़दम-क़दम पर अपने मालिक या ठेकेदार के समक्ष झुकना पड़ता है, उनके द्वारा गाली-गलौच और अपमान को सहना पड़ता है। जब कभी हमारा ग़ुस्सा फटने को भी होता है, तो अपने मासूम बच्चे का चेहरा हमारे ज़ेहन से एक बार गुज़र जाता है, और हम रुक जाते हैं और ख़ून का घूँट पीकर हर प्रकार के अपमान और अन्याय को बर्दाश्त कर जाते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि मालिक वर्ग के पास पैसे, पुलिस और सरकार की ताक़त है और एक अकेले मज़दूर के तौर पर किसी भी मज़दूर की कोई औक़ात नहीं है। यह कड़वी बात है लेकिन यह सच है, आप सभी जानते हैं। लेकिन 'पुष्पा' और 'केजीएफ़' जैसी फ़िल्में हमें इस कड़वे यथार्थ से कुछ समय के लिए पलायन का एक रास्ता देते हैं, जिसमें हम असली जीवन के अन्धकार से दूर भाग जाते हैं और एक काल्पनिक जीवन को जीने की कोशिश करते हैं, जो हम वाकई कभी नहीं जी सकते क्योंकि एक अकेले मज़दूर की पूँजीपति के सामने कोई ताक़त या औक़ात नहीं है।

हमारी वास्तविक शक्ति हमारी एकजुटता में है। पूँजीपति की पैसे की ताक़त उसके सामने कुछ भी नहीं है क्योंकि अन्तत: पूँजीपति की पूँजी हमारी श्रमशक्ति के दोहन से निचोड़े गये मुनाफ़े से ही आती है। हमारी सामूहिकता के समक्ष वह कुछ नहीं कर सकता है। एक कारख़ाने के पैमाने पर, एक पेशे के पैमाने पर और पूरे देश में समूची अर्थव्यवस्था और समूचे मज़दूर वर्ग के पैमाने पर ऐसी सामूहिकता और ऐसी एकजुटता क़ायम करके ही हम अपने विरुद्ध हो रहे अन्याय और अपमान के विरुद्ध लड़ सकते हैं। लेकिन इन तरह की फ़िल्मों में इस प्रकार के रास्ते के बारे में सोचने पर ही निषेध होता है। हमें ऐसी फ़िल्म देखते हुए प्रतिरोध के इस सच्चे और व्यावहारिक रास्ते के बारे में सोचने की इजाज़त ही नहीं होती। उस समय हमें पूँजीवादी व्यक्तिवाद और नायकवाद की अफ़ीम सुंघा दी जाती है जो कि हमें कड़वे यथार्थ से पलायन कराने में मदद करती है और कुछ समय हम अपनी सच्चाई और उसके दुख से दूर भाग जाते हैं। **इसीलिए इस प्रकार की फ़िल्में वास्तव में पलायनवादी फ़िल्में हैं, जो कि हमें वास्तविकता को समझने और उस वास्तविकता के मुताबिक़ सही क़दम उठाने की दिशा में नहीं प्रेरित करती हैं, बल्कि हमें वास्तविकता को देखने से रोकने का काम करती हैं और इस रूप में पूँजीवादी विचारधारा के काम को पूरा करती हैं : हमें सच्चाई देखने से रोकने का काम।** इसी को अंग्रेज़ी भाषा में 'फ़ेटिश' कहा जाता है।

मज़दूर वर्ग को ऐसी फ़िल्मों की ज़रूरत है जो कि मौजूदा पूँजीवादी समाज में निहित शोषण, उत्पीड़न और दमन के पहलुओं को सच्चाई के साथ उजागर करें। समस्या को सही तरीक़े से पेश करने में उसके समाधान की सम्भावनाएँ भी छिपी होती हैं। यदि किसी अन्तरविरोध को सही तरीक़े से चित्रित किया जाये, सही तरीक़े से समझा जाये तो उसके समाधान की बात को उपदेश के समान पेश करने की कोई ज़रूरत नहीं होती है और न ही कला का यह काम होता है कि हर फ़िल्म के अन्त में क्रान्ति के रास्ते की रूपरेखा पेश कर दी जाये। वास्तव में, कला का पहला कार्य है यथार्थ का ईमानदार चित्रण करना, सही प्रातिनिधिक तथ्यों की पहचान करना जो कि यथार्थ के सारतत्व को पेश करते हों। मसलन, किसी एक मज़दूर का पूँजीपति बन जाना सम्भव है और यह समूचे सामाजिक यथार्थ का हिस्सा हो सकता है। लेकिन यह सामाजिक यथार्थ का कोई प्रातिनिधिक हिस्सा नहीं है। मसलन, कोई बच्चा एक हाथ में छह उंगलियों के साथ पैदा हो, तो यह सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता है कि मनुष्यों के एक हाथ में छह उंगलियाँ होती हैं!

पूँजीवादी कला अप्रातिनिधिक यथार्थ के किसी एक पहलू को उठाकर उसका सामान्यीकरण करती है और फिर हमें विशेष प्रकार की चाहतें, आकांक्षाएँ और सपने पालने के लिए प्रशिक्षित करती है, जो कि पूँजीपति वर्ग के लिए फ़ायदेमन्द हो। सर्वहारा वर्ग की कला समूचे सामाजिक यथार्थ के सारतत्व को पकड़ती है क्योंकि वह उसके प्रातिनिधिक पहलुओं को पकड़ती है, उनका कलात्मक अमूर्तन और सामान्यीकरण करती है। इसलिए वह सच के साथ खड़ी होती है। इसीलिए वह अन्तरविरोधों को सही रूप में पेश कर सकती है। और इसीलिए उसे अन्त में क्रान्ति के बारे में उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि अन्तरविरोधों का उसका सही और सटीक चित्रण स्वत: ही हमें अन्तत: सही दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है। वास्तव में कौन सही दिशा में सोचता है या सोच सकता है, यह उस व्यक्ति की वस्तुगत सामाजिक व राजनीतिक वर्गीय अवस्थिति पर भी निर्भर करता है। लेकिन निश्चित ही सर्वहारा कला यथार्थ के एक सटीक, ईमानदार और वैज्ञानिक चित्रण के ज़रिए समाज की प्रातिनिधिक सच्चाइयों और उसके अन्तरविरोधों को समझने में हमारी मदद करती है।

'पुष्पा', 'केजीएफ़' आदि जैसी फ़िल्में इसका ठीक उल्टा काम करती हैं। वे ख़ास तौर पर ख़तरनाक इसलिए हैं क्योंकि उनकी विषयवस्तु किसी एनआरआई अमीर भारतीय का प्रेम प्रसंग नहीं है, बल्कि एक ऐसा नायक है जो स्वयं मज़दूर वर्ग से आता है और फिर कहानी उसे पूँजीपति बना देती है और इस वजह से ऐसी फ़िल्मों का ऊपर बताये गये कारणों से हम मज़दूरों और विशेषकर हमारे नौजवानों पर काफ़ी असर होता है। इसके बारे में एक आलोचनात्मक दृष्टि देना हमारे लिए ज़रूरी है। ज़ाहिर है, मौजूदा लेख में हम इन फ़िल्मों की विस्तृत सैद्धान्तिक और कलात्मक आलोचना नहीं पेश कर सकते और कुछ विशिष्ट पहलुओं की ओर संकेत करके ही हमें सन्तोष करना पड़ा है। इस लेख में हमारा उद्देश्य बहुत ही विनम्र है : इन फ़िल्मों के सामाजिक प्रकार्य को चित्रित करना और उसके ज़रिए पूँजीपति वर्ग द्वारा बेची जा रही कला के सामाजिक प्रकार्य को आम तौर पर चिह्नित करना। आगे हम अलग-अलग फ़िल्मों के माध्यम से इस विषय पर और विस्तार से भी लिखने का प्रयास करेंगे।

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

पृथ्वी पर बढ़ती गर्मी और जलवायु परिवर्तन : पूँजीपतियों के मुनाफ़े की बलि चढ़ रही है हमारी धरती

– सार्थक

पूँजीवाद के हाथों हो रही प्रकृति की तबाही आज हमारे सामने एक विकट संकट बनकर खड़ी है। मुनाफ़े की हवस पर टिकी यह पूँजीवादी व्यवस्था पहले ही समाज के एक बड़े हिस्से को इन्सानी ज़िन्दगी देने की क्षमता खो चुकी थी लेकिन आज अपनी मरणासन्न अवस्था में यह प्रकृति की तबाही को इस मुक़ाम पर पहुँचा चुकी है कि समूची मानवजाति के सामने अस्तित्व का संकट पैदा हो गया है। तपती गर्मी, जलती लू, हड्डियाँ गलाने वाली शीत लहर, अनियमित बारिश और नियमित सूखा, पहले से कहीं अधिक विनाशकारी होती जा रही है बाढ़ जो नियमित तौर पर आती है और चक्रवात, तेज़ी से पिघलते हिमनद, ज़हरीले वायु और प्रदूषित जल, सभी प्रकृति की तबाही के अलग अलग रूप हैं। हालाँकि प्रकृति का विनाश पूरे मानव समाज के लिए अस्तित्व का संकट पैदा करता है लेकिन तात्कालिक तौर पर इसकी सबसे बड़ी मार मेहनतकश जनता को ही सहनी पड़ती है। मेहनतकश अवाम के पास न ही 'एयर कण्डीशनर' है और न ही 'रूम हीटर', न ही 'एयर प्यूरीफ़ायर' और न 'वाटर प्यूरीफ़ायर' है। हर क़दम पर मज़दूर वर्ग और मेहनतकश जनता का सामना पर्यावरणीय विनाश से होता है जो किसी ख़ूँख़ार राक्षस की तरह उनपर हमला करता है। **फ़ैक्टरियों, कारख़ानों, वर्कशॉपों में दो वक़्त की रोटी के लिए कमरतोड़ मेहनत करने के बाद जब मेहनतकश जनता बाहर आती है तो उसे स्मॉग, लू, गन्दा पानी, ज़हरीली हवा ही मिलती है।**

पृथ्वी का तापमान बढ़ने (ग्लोबल वार्मिंग) और उसकी वजह से होने वाला जलवायु परिवर्तन आज प्रकृति की तबाही की सबसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्तियों में से है। पृथ्वी के औसत तापमान में बढ़ोत्तरी या ग्लोबल वार्मिंग मुख्यतः कार्बन उत्सर्जन की तेज़ी से बढ़ती दर और जंगलों के अन्धाधुन्ध सफ़ाये (डिफ़ोरेस्टेशन) का नतीजा है। उत्तर भारत के मैदानी इलाक़ों में इस साल चली भयंकर लू का मुख्य कारण ग्लोबल वार्मिंग ही है। इसकी चर्चा हमने 'मज़दूर बिगुल' के पिछले अंक में विस्तार से की है। सरकारी सूत्रों के अनुसार इस साल भारत और पाकिस्तान में लू के कारण लगभग 100 लोगों की मौत हो चुकी है। वैज्ञानिकों का मानना है कि अगर ग्लोबल वार्मिंग ऐसे ही बढ़ता रहा तो शताब्दी के अन्त तक पृथ्वी का औसत तापमान औद्योगिक क्रान्ति के पहले के स्तर से 2 डिग्री बढ़ जायेगा और इससे लू की तीव्रता और नियमितता 30 गुना बढ़ जायेगी। आम मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी को बेहाल करने में गर्मी और लू का जितना योगदान है उतना ही बड़ा हाथ उमस का भी है। उमस गर्मी को ज़्यादा जानलेवा बना देती है। जब गर्मी बढ़ने लगती है तो शरीर के अन्दर के तापमान को सुरक्षित दायरे में बनाये रखने के लिए पसीना आता है। हवा हमारी त्वचा से पसीना सोख लेती है और इससे शीतलन प्रभाव पैदा होता है। इस तरह हमारा शरीर ठण्डा रहता है। लेकिन अगर हवा में पहले से ही पर्याप्त नमी मौजूद है तो हवा हमारी त्वचा से पसीना सोख नहीं सकती है। इससे हमारे शरीर को प्राकृतिक तौर पर ठण्डा रखने का तंत्र काम करना बन्द कर देता है और अन्दर का तापमान बढ़ने लगता है। यदि यह प्रक्रिया कुछ घण्टे भी चलती रही तो हमारी मौत हो सकती है। हमारे रोज़मर्रा के अनुभव से भी हम यह जानते है कि सिर्फ़ तपती गर्मी या लू से उतनी तकलीफ़ नहीं होती जितनी तकलीफ़ गर्मी और उमस के एकसाथ होने से होती है। ग्लोबल वार्मिंग से हवा का तापमान बढ़ता है और गर्म हवा ठण्डी हवा के मुक़ाबले ज़्यादा वायुमण्डल की नमी वहन करती है। अतः वायुमण्डल में बढ़ती उमस और उससे होने वाली तकलीफ़ के पीछे भी मुख्य कारक ग्लोबल वार्मिंग ही है।

ग्लोबल वार्मिंग के कारण जहाँ प्रति वर्ष लू की स्थिति ज़्यादा दिनों तक व ज़्यादा तीव्रता के साथ लोगों को अपनी ज़द में ले रही है वहीं दूसरी ओर हर साल शीत लहर का प्रकोप भी बढ़ता जा रहा है। 1980 से 2018 के बीच शीत लहर के कारण हुई मौतें लू से हुई मौतों से कई ज़्यादा थीं। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 2020 में शीत लहर से 152 लोगों की मौत हुई। जनवरी 2021 में उत्तर भारत के हर राज्य में औसत मासिक अधिकतम तापमान सामान्य से 2-4 डिग्री कम था। ज़ाहिर है कि लू की तरह शीत लहर में मरने वाले भी अधिकांश मेहनतकश परिवारों से ही आते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार शीत लहर की बढ़ती अवधि और तीव्रता का मुख्य कारक ग्लोबल वार्मिंग और विशेष तौर पर आर्कटिक इलाक़े का ऊष्मीकरण है। अबतक यह एक स्थापित तथ्य माना जाता था कि आर्कटिक वृत्त पृथ्वी के बाक़ी हिस्सों के मुक़ाबले दुगुनी तेज़ी से गर्म होता है। लेकिन पिछले साल 'नासा' से जुड़े कुछ वैज्ञानिकों के नये शोध के अनुसार आर्कटिक वृत्त असल में दुगुनी नहीं बल्कि चौगुनी तेज़ी से गर्म हो रहा है। ग्लोबल वार्मिंग और आर्कटिक वृत्त के ऊष्मीकरण के कारण भूमण्डलीय वायु प्रवाह के पैटर्न में परिवर्तन होता है और शीत लहर और लू, दोनों की ही अवधि, नियमितता और तीव्रता में बढ़ोत्तरी होती है। लान्सेट स्वास्थ्य जर्नल में 2021 में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार भारत में असामान्य तापमान के कारण हर साल 7 लाख से ज़्यादा लोगों की मौत होती है। इनमे से 6.5 लाख लोगों की मौत असामान्य ठण्डे तापमान और औसतन 80 हज़ार लोगों की मौत असामान्य गर्म तापमान के कारण होती है। असामान्य तापमान के कारण मरने वाले लोग आम तौर पर समाज के सबसे निचले तबक़े से आते हैं। इनमें सबसे ज़्यादा फ़ुटपाथ पर सोने वाले, रिक्शा-ट्रॉली खींचने वाले, लू के बावजूद बेलदारी करने के लिए मजबूर लोग, निर्माण कार्यों में लगे लोग शामिल हैं। इन्हें चौदह घण्टे कारख़ानों में हड्डियाँ गलाने के बाद भी दो वक़्त की रोटी नसीब नहीं होती। इनके शरीर पीढ़ियों की ग़रीबी, भुखमरी और कुपोषण से पहले से जर्जर होते हैं। उसके ऊपर से शरीर पर एक शर्ट या मात्र शॉल की परत शीत लहर से उनकी रक्षा करने में असमर्थ होती है।

लू और शीत लहर के अलावा ग्लोबल वार्मिंग के कारण एक और भयानक प्रक्रिया घटित हो रही है। यह प्रक्रिया है हिमनदियों और ध्रुवीय हिमच्छदों ('पोलर आइस कैप्स') का तेज़ी से पिघलना और औसत समुद्र तल ('मीन सी लेवल') का लगातार बढ़ना। अगले कुछ दशकों में शंघाई, होंग कोंग, ओसाका, रिओ, एम्स्टर्डम, अलेक्सान्द्रिया जैसे दुनियाभर के कई तटवर्ती शहरों के बड़े हिस्सों के जलमग्न हो जाने की सम्भावना है। भारत में मुम्बई, चेन्नई, विशाखापट्टनम, कोची, तिरुवनन्तपुरम आदि शहरों के कुछ इलाक़े 2050 तक जलमग्न हो सकते हैं। यह साफ़ है कि जब इन शहरों पर समन्दर का पानी चढ़ने लगेगा तो इसका ख़तरा भी सबसे ज़्यादा इन शहरों की मज़दूर और मेहनतकश जनता को ही झेलना होगा। पूँजीपति वर्ग और उनके नौकर-चाकर ख़तरे का आभास होते ही शहरों से भागकर दूर सुरक्षित स्थानों पर ऐशो-आराम से रहेंगे। पानी में डूबने और पानी के विनाश को झेलने के लिए पीछे मेहनतकश जनता रह जायेगी। समुद्र स्तर के बढ़ने से आने वाली बाढ़ के कारण समन्दर का खारा पानी ज़मीन के अन्दर रिसकर चला जायेगा। इससे भूमिगत जल भी खारा बन जायेगा। इससे साफ़ पानी की उपलब्धता भयंकर विकराल रूप ले लेगी क्योंकि आज ही मीठे पानी की समस्या गम्भीर समस्या बन चुकी है तब क्या होगा इसकी कल्पना भी करने से रूह काँपती है। पीने के पानी के बिना जीवन की कल्पना भी करना मुश्किल है। भूमिगत जल स्तर के लवणीकरण के कारण तटीय इलाक़ों में कृषि उत्पादन पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

पिछले कई सालों से हम यह देख रहे हैं कि एक ओर तो मानसून के दौरान कुल बारिश पहले जितनी होती थी उसकी तुलना में काफ़ी कम होती जा रही है। वहीं दूसरी ओर बाढ़ की नियमितता और तीव्रता बढ़ती जा रही है। दूसरे शब्दों में, देश के ज़्यादातर इलाक़ों में लम्बे समय तक बहुत कम बारिश हो रही है और उसमें से कुछ इलाक़े ऐसे हैं जहाँ अचानक से कुछ दिनों के लिए मूसलाधार बारिश होती है। मूसलाधार बारिश की वजह से बाढ़ की स्थिति पैदा हो जाती है। महज़ एक-दो हफ़्तों में ही इन इलाक़ों में सूखे की स्थिति बाढ़ की स्थिति में तब्दील हो जाती है। हाल ही में असम में आयी बाढ़ इस प्रक्रिया का प्रातिनिधिक उदाहरण है। सरकारी आँकड़ों के अनुसार इस साल मई में आयी बाढ़ में 30 से ज़्यादा लोगों की मौत हुई जबकि जून में आयी बाढ़ में अबतक 120 से ज़्यादा लोग मर चुके हैं तथा कई अभी लापता हैं। जून में जो ज़िले बाढ़ की चपेट में आये उनमें से कई ज़िले ऐसे हैं जिनमें बाढ़ के एक हफ़्ते पहले तक बारिश की कमी के कारण सूखा पड़ने का अन्दाज़ा लगाया जा रहा था। पिछले साल जून में असम में सामान्य से 28 प्रतिशत कम बारिश हुई थी लेकिन इस साल जून में सामान्य से 83 प्रतिशत ज़्यादा बारिश हुई है। 2019 की मुम्बई बाढ़ और 2018 की केरल बाढ़ (जिसमें 500 से ज़्यादा लोगों की मौत हुई थी) के पहले भी वहाँ एक लम्बे अरसे तक बहुत कम बारिश हुई थी। 2016 में मध्य प्रदेश और राजस्थान में भी बाढ़ के पहले तक सूखे की स्थिति बनी हुई थी। सूखे और बाढ़ का लगभग साथ-साथ होना और अनियमित बारिश ग्लोबल वार्मिंग और बदलते जलवायु की ही अभिव्यक्ति है। ज़्यादा नियमित और तीव्र होती लू बंगाल की खाड़ी से तेज़ दक्षिण-पश्चिमी हवा खींचती है जो आगे जाकर असम समेत उत्तर-पूर्व में मूसलाधार बारिश देती है। ग्लोबल वार्मिंग के कारण बंगाल की खाड़ी के ऊपर से बहने वाली यह अपेक्षाकृत गर्म हवा ज़्यादा नमी सोखती हुई चलती है और आगे जाकर ज़्यादा बारिश देती है। असम में हर साल आ रही बाढ़ के पीछे एक और अहम कारक वहाँ हो रही जंगल की बेरोकटोक कटाई है। असम उन राज्यों में आता है जहाँ पिछले दो दशकों में सबसे ज़्यादा वनों को काटा गया है। वनों के काटे जाने के कारण सतह पर बारिश का पानी ज़्यादा तेज़ी से बहने लगता है। वनोन्मूलन के कारण भू-क्षरण भी बढ़ता है जिससे ब्रह्मपुत्र नदी की चौड़ाई बढ़ती जा रही है और नदी के तल में रेत जमा होने से नदी का जल स्तर भी तेज़ी से बढ़ जाता है। असम में जो वनोन्मूलन और आर्द्रभूमि (वेटलैण्ड) पर अतिक्रमण चल रहा है। यह सीधे तौर पर पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस के लिए किया जा रहा है। इसके अलावा अनियोजित शहरीकरण भी इस अतिक्रमण के लिए ज़िम्मेदार है। दोनों ही स्थिति में पूँजीवादी व्यवस्था ही इसके लिए उत्तरदायी है। अनियोजित शहरीकरण भी पूँजीवादी व्यवस्था में अन्तर्निहित अराजक उत्पादन और अराजक विकास को ही दर्शाते हैं।

ख़ैर, मूल बात यह है कि पूँजीवाद की वजह से हो रहा प्रकृति का विनाश ही आज प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाढ़, सूखा आदि के ज़्यादा विनाशकारी होते जाने का प्रमुख कारक है। देश में 2011 से 2020 के बीच हर साल औसतन 1500 लोग बाढ़ में मारे गये हैं (ज़्यादातर आँकड़ों की तरह यह भी सरकारी आँकड़ा है। निश्चित ही मौत के असली आँकड़े इससे कहीं ज़्यादा होंगे)। अगर इसकी तुलना 1971 से 1980 के बीच प्रति वर्ष आयी बाढ़ से की जाये तो इनमें औसतन 970 लोग मारे गये थे। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाढ़ पहले की तुलना में ज़्यादा नियमित हो गयी है और इसकी भयंकरता कहीं अधिक बढ़ गयी है। यदि हम पूछें कि हर साल बाढ़ में डूबकर मरने वाले 1500 लोग कौन हैं? या कि अभी असम में मरने वाले 120 लोग कौन हैं? तो इसका जवाब बहुत कठिन नहीं है। समाचार और अख़बारों में देखकर समझ आता है कि एक-दो झोले में कुछ सामान, कुछ बरतन लिये, बच्चों को कन्धे पर बिठाये हम आप जैसे आम मज़दूर मेहनतकश लोग ही हैं जो कुछ सरकारी राहत की आस में कैम्पों में दिन काट रहे हैं। पानी के उतरने पर दुबारा दो जून की रोटी के लिए कमरतोड़ मेहनत में लग जायेंगे। इन दिनों कैम्पों में भूखे-प्यासे बैठे अपने नुक़सान का अन्दाज़ा लगा रहे होंगे।

मानसून और मानसून से पहले होने वाली बारिश की वजह से कई जगहों

(पेज 2 पर जारी)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, ातगंज, लखनऊ-226006